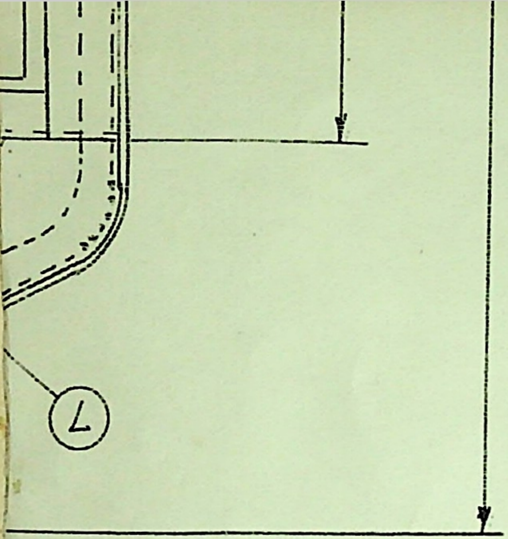
बौद्ध तर्क भाषा

401-



DRG. NO. 0 573 003 006

मोक्षाकरगुप्तविरचिता

बौद्ध-तर्कभाषा

(हिन्दीअनुवादपरिशिष्टद्वयसंवलिता)

जितारिपादविरचितः

अनेकान्तवादनिरासः हिन्दीअनुवादसहितः

सम्पादकः अनुवादकश्च

काशीविद्यापीठदर्शनविभागाध्यक्षः

डा० रघुनाथगिरिः

एम० ए०, एलएल० बी०, पीएच० डी०, न्यायवैशेषिकशास्त्राचार्यः

प्राच्य प्रकाशन

७४-ए, जगतगंज

वाराणसी-२

प्रकाशक
प्राच्य प्रकाशन
७४-ए, जगतगंज
वाराणसी–२

मुद्रक
श्री हरि प्रेस
सी० ६/७३ बागबरियार सिंह
वाराणसी

मूल्य [illegible]
50/-

प्रथम संस्करण
१९६९

ARKABHASHA & ANEKANTAVADANIRASA

OF

MOKSHAKARAGUPTA and JITARIPAD

Edited with a Hindi Translation by

Dr. Raghunath Giri

M. A., LL. B., Ph. D., Nyaya-Vaisheshika Shastracharya

Head : Department of Philosophy

Kashi Vidyapith, Varanasi

PRACHYA PRAKASHAN

74–A Jagatgang

VARANASI–2

1969

भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक जीवन का आधार दर्शन है। दर्शन परम सत्य या परम तत्त्व को देखने एवं प्राप्त करने का उपाय, मार्ग या दृष्टि है। सत्य या परतत्त्व के स्वरूप का निर्धारण विशुद्ध विचार से होता है। विचार-कनक की परीक्षा तर्काग्नि में होती है। तर्क की कसौटी से निखरा हुआ विचार विशुद्ध होता है। विचार में दोष, आग्रह, पक्षपात, मोह, बुद्धि की मलिनता एवम् दृष्टि के संकोच के कारण आते हैं। तर्क इन दोषों का निवारण कर विचार को शुद्ध एवम् बुद्धि को निर्मल करने में सहायक होता है। इसलिए तर्क को दर्शन का अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग माना जाता है और तर्क में किये गए श्रम को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इस सन्दर्भ में यह उक्ति सर्वथा सत्य प्रतीत होती है :—

मोहं रुणद्धि विमलीं कुरुते च बुद्धिं सूते च संस्कृतपदव्यवहारशक्तिम्।
शास्त्रान्तरभ्यसनयोग्यतया युनक्ति तर्कश्रमो न तनुते कमिहोपकारम्॥

तर्क में किया हुआ श्रम मोह को रोकता है, बुद्धि को निर्मल बनाता है, संस्कृत पद के व्यवहार की क्षमता उत्पन्न करता है, अन्य शास्त्रों के अभ्यास की योग्यता प्रदान करता है। इस प्रकार वह क्या क्या उपकार नहीं करता? अर्थात् वह सभी प्रकार के उपकार करता है।

भारतीय दर्शन में तर्कशास्त्र को हेतुविद्या, हेतुशास्त्र, प्रमाणशास्त्र न्यायशास्त्र, आन्वीक्षिकी आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी की महत्ता बतलाते हुए कहा है—

प्रदीपः सर्वशास्त्राणामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विधोद्देशे प्रकीर्तिता॥

यह आन्वीक्षिकी समस्त शास्त्रों का प्रकाश, समस्त कर्मों का उपाय तथा समस्त धर्मों का आधार है।

भारतीय दर्शन में तर्क का उपयोग मुख्यतया तीन कर्मों के लिए किया जाता है: (क) अपने सिद्धान्त की स्थापना एवम् सिद्धि के लिए; (ख) अपने मत पर लगाये गए आरोपों, आक्षेपों एवम् दोषों के निवारण के लिए; (ग) परमत के खण्डन के लिए। दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय उक्त कार्यों के लिए तर्क का आश्रय लेते हैं अतः सबके लिये तर्क का उपयोग अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार के तार्किक विवेचन से युक्त विचारों को कथा या संवाद कहा जाता है जिसके न्याय में तीन भेद किए गए हैं: वाद, जल्प और वितण्डा। वाद गुरु और शिष्य में होने वाले विचार को कहा गया है। जल्प दो प्रतिस्पर्धियों में अपने मत की स्थापना तथा परमत के खण्डन के लिए होने वाले विचार का नाम है और वितण्डा अन्य मतों के खण्डन मात्र के लिए चलने वाले विचार का नाम है। कभी-कभी वाद शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के तार्किक विचारों के लिए भी किया जाता है और इसके आधार पर तर्कशास्त्र को वादविद्या या वादशास्त्र भी कहा गया है। आर्य असंग इस वादविद्या को ६ भागों में विभक्त करते हैं : (१) वाद, (२) वाद अधिकरण, (३) वाद अधिष्ठान, (४) वाद आत्मकार, (५) वाद निग्रह, (६) वादे बहुकर।

(१) वाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसका उसके समान अन्य विचारों से भेद करना आवश्यक हो जाता है—(क) वाद का साधारणतया अर्थ है भाषण जो बोला या कहा जाता है। (ख) प्रवाद :—जो बातें लोक में प्रसिद्ध होती हैं। (ग) विवाद :—विरुद्ध विषयों से सम्बन्धित वाग्युद्ध का नाम ही विवाद है। (घ) अपवाद :—दूसरों के सद्गुणों की निन्दा अपवाद है। (ङ) अनुवाद :—धर्म के विषय से सम्बन्धित सन्देह के निवारण के लिए कहे गए वचन अनुवाद हैं। (च) अववाद वह भाषण है जो तत्वज्ञान कराने के लिए किया गया हो।

(२) वाद-अधिकरण : वह स्थान जहाँ किसी सिद्धान्त के निश्चय के लिए वाद चलता हो ऐसे स्थानों में राजा या बड़े अधिकारी की परिषद तथा ब्राह्मणों या भिक्षुओं की सभा को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(३) वाद-अधिष्ठान : वाद के लिये दक्ष वक्ता की आवश्यकता होती है। वही वाद का अधिष्ठान या संचालक है। उसे ही वाद-अधिष्ठान कहा जाता है।

(४) वाद-अलंकार : वक्ता के वे गुण या विशेषताएँ हैं जिनके रहने से वक्ता का भाषण अलंकृत हो जाता है। ये गुण पाँच हैं:

(क) स्वपर समयज्ञता:—अपने तथा प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का समुचित ज्ञान होना।

(ख) वाक्कर्म सम्पन्नता:—शास्त्रार्थ के अनुकूल शुद्ध एवं परिष्कृत वाणी के प्रयोग की योग्यता।

(ग, वैशारद्य:—अपने मत के प्रतिपादन के समय निर्भीक रहना, प्रतिपक्षियों से किसी प्रकार भयभीत न होना।

(घ) धीरता:—शास्त्रार्थ में बिना सोचे समझे घबड़ा कर कुछ का कुछ न कहना अपितु धैर्य के साथ सोच समझकर बोलना।

(ङ) दाक्षिण्य :—मैत्री भाव रखना तथा दूसरों को भी अनुकूल लगने वाली बातों का कहना।

(५) वाद निग्रह: उन दोषों की जानकारी जिनके निर्देश से प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित कर देता है। इन दोषों का विशद विवेचन गौतम के न्याय दर्शन के पञ्चम अध्याय में जाति और निग्रह स्थान के नाम से किया गया है। वहाँ जाति के साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम आदि चौबीस भेद और निग्रह स्थान के प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध आदि बाइस भेद माने गए हैं। किन्तु मैत्रेय ने निग्रह के केवल तीन भेद माने हैं:

(क) बचन संन्यास—अपने सिद्धान्त को स्पष्ट न समझना।

(ख) कथाप्रमाद—आवश्यक एवं मतलब की बात न कर इधर-उधर की बातें करना ।

(ग) बचन दोष—निरर्थक, विना सोचे समझे बात करना ।

(६) वादे बहुकरः उन समस्त विषयों की जानकारी जिनका शास्त्रार्थ में उपयोग होता है । इसमें अपनी और अपने प्रतिपक्षी की योग्यता का तुलनात्मक ज्ञान, परिषद के अनुकूल प्रतिकूल होने का ज्ञान तथा अन्य इस प्रकार के आवश्यक ज्ञान जिनका शास्त्रार्थ में विजय के लिए आवश्यक होने के रूप में समावेश होता है ।

इस वादविद्या या तर्कशास्त्र का प्रधान लक्ष्य परम तत्व या परम सत्य के स्वरूप-निर्धारण के लिए विचार को शुद्ध एवं चिन्तक को प्रबुद्ध करना होता है । प्रबुद्ध चिन्तक प्रमाणों से ही अपने अभिमत तत्व की सिद्धि करता है, अतः तत्व में प्रमाण अपरिहार्य हो जाता है । प्रमाण का समुचित उपयोग तभी हो सकता है जब प्रमाण के स्वरूप, प्रकार एवं प्रामाणिकता का स्पष्ट ज्ञान हो । अतः तर्कशास्त्र में ज्ञान-विचार एवम् प्रमाण-विचार को प्राथमिकता दी जाती है ।

तर्क दर्शन का अंग है अतः दर्शन के वर्गीकरण के आधार पर ही तर्क का भी वर्गीकरण किया जा सकता है । भारतीय दर्शन की दो धारायें हैं वेदानुकूल एवं वेद प्रतिकूल । पहले को आस्तिक और दूसरे को नास्तिक कहा जाता है । आस्तिक दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और वेदान्त आते हैं तथा नास्तिक दर्शन में चार्वाक जैन और बौद्ध हैं । जैनों में दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भेद हैं; इसी प्रकार बौद्धों में भी सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार आदि प्रमुख भेद हैं । आस्तिक वर्ग के प्रत्येक सम्प्रदाय एक ओर नास्तिकों की मान्यताओं, सिद्धान्तों एवं धारणाओं का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर अपने मत से विरुद्ध आस्तिक मान्यताओं, सिद्धान्तों और अवधारणाओं का खण्डन करते हैं । उसी प्रकार नास्तिक वर्ग के प्रत्येक सम्प्रदाय एक ओर नास्तिकों की सामान्य और विशेष मान्यताओं, सिद्धान्तों और धारणाओं का

खण्डन करते हैं और दूसरी ओर नास्तिक वर्ग के अन्य सम्प्रदायों के मतों का खण्डन करते हैं। इसके अतिरिक्त अपने सम्प्रदाय के अन्य उपसम्प्रदायों के मतों मान्यताओं और सिद्धान्तों का भी खण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन की प्रणाली में भारतीय तर्क का बहुमुखी विकास हुआ है और सभी दर्शनों का यह अविभाज्य अंग बना हुआ है।

जब तर्क का उपयोग स्वसिद्धान्त की स्थापन और परमत खण्डन में ही होता है तब सिद्धान्त-भेद से तर्क में भेद होना स्वाभाविक है। फिर भी, कुछ ऐसी बातें हैं जिनका विवेचन सभी तर्कों में होता है जैसे प्रमाण आदि का विवेचन। सभी तर्कों में प्रमाण के स्वरूप, प्रकार, प्रामाणिकता, प्रामाणिकता की जानकारी आदि विषयों का विवेचन हुआ है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रमाणविचार, या ज्ञान-विचार सम्बन्धी बातों में इनमें परस्पर मतभेद नहीं है। इस सम्बन्ध में भी मतभेद तत्त्व-विचार के मतभेद से कम नहीं है और इसलिए वह खण्डन-मण्डन प्रक्रिया यहाँ भी चलती रहती है। इस प्रकार, सभी तर्क एक दूसरे से सहयोगी या प्रतिपक्षी के रूप में उलझे हुए हैं जिनका विशद विवेचन यहाँ प्रासंगिक नहीं होगा। सभी तर्कों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम इनमें ज्ञान के स्वरूप या प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई ज्ञान को गुण मानता है, जैसे न्याय-वैशेषिक; कोई क्रिया या व्यापार जैसे मीमांसक; कोई द्रव्य जैसे औपनिषदिक वेदान्त; कोई सम्बन्ध जैसे हीनयानी बौद्ध या सांख्य। इस प्रकार ज्ञान की विविध परिभाषाएँ की जाती हैं। प्रमाण के प्रकार के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान, सांख्य और जैन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन, न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानता है। प्रभाकर (मीमांसक) उक्त चारों प्रमाणों के साथ अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच प्रमाण मानते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक उक्त पाँच प्रमाणों के साथ अनुपलब्धि को जोड़कर छः प्रमाण मानते हैं। इनके अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा और परिशेष को पौराणिकों, तान्त्रिकों एवं गणितज्ञों ने प्रमाण माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदाय हैं उतने ही प्रकार के तर्क हैं फिर भी प्रमुखता के कारण सामान्यत: तर्कशास्त्र को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है—ब्राह्मणतर्क, बौद्ध तर्क और जैन तर्क। समस्त वेदानुकूल सम्प्रदायों के तर्क को ब्राह्मण तर्क नाम दिया जाता है और सभी बौद्ध सम्प्रदायों के तर्कों को बौद्ध तर्क और जैनों के तर्कों को जैन तर्क कहा जाता है। ब्राह्मण तर्कों में न्याय का विशेष स्थान है तथा बौद्ध तर्क के साथ इसके संघर्ष का एक विशाल इतिहास है। दोनों एक से प्रभावित, संशोधित, परिष्कृत और परिवर्द्धित हुए हैं।

अत: इनके तुलनात्मक अध्यन की आवश्यकता के सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकती। गौतमीय न्याय और बौद्ध न्याय तो परस्पर इतना सम्बद्ध है कि इनका तुलनात्मक अध्ययन भारतीय तर्क के गौरव का इतिहास कहा जा सकता है। गौतमीय न्याय के आचार्यों में गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, गंगेशोपाध्याय, वर्द्धमान, वासुदेव, रघुनाथ, मथुरा नाथ, जगदीश, गदाधर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बौद्धन्याय का सूत्रपात तो पिटक काल में ही हो गया था जिसकी झलक विनय पिटक के चतुर्विध अधिकरणों में मिलती है। ये चतुर्विध अधिकरण निम्नलिखित हैं—(१) विवादाधिकरण—विभिन्न राय वाले विषय का निर्णय; (२) अनुवादाधिकरण—वह विषय जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को नियमोल्लंघन का दोषी बतलाता है; (३) आपत्ताधिकरण—वह विषय जिसमें किसी भिक्षु ने जानबूझ कर आचार के किसी नियम या सिद्धान्त का उलंघन किया है; (४) किच्चाधिकरण—संघ के किसी नियम के विषय में विचार किन्तु इसका क्रमिक विकास बौद्ध दर्शन के चारों सम्प्रदाय वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक एवं योगाचार में होता गया है फिर भी इसका स्फुट रूप नागार्जुन और वसुबन्धु के ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। दिङ्नाग ने बौद्ध न्याय को इतना स्पष्ट और समृद्ध बनाया क उन्हें बौद्ध न्याय के संस्थापक के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इनके थ प्रमाणसमुच्चय में उन समस्त आक्षेपों का उत्तर है जो बौद्ध सिद्धान्त पर ए गए हैं। साथ ही साथ उसमें गौतमीय न्याय, विशेषकर वात्स्यायन के

सिद्धान्तों की कटु आलोचना भी की गयी है। दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के खण्डन तथा वात्स्यायन के मत की रक्षा के लिए उद्योतकर भारद्वाज ने न्याय-वार्तिक की रचना की है। उद्योतकर की युक्तियों के खण्डन तथा स्वपक्ष की स्थापना के लिए धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण वार्तिक' जैसा महान् ग्रन्थ लिखा। धर्मकीर्ति के प्रहार से पीड़ित उद्योतकर की वाणी रूपी गौ के उद्धार के लिए वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक पर तात्पर्यटीका लिखी। पुनः बौद्धनैयायिकों के खण्डन करने पर उदयनाचार्य ने न्यायवार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि की रचना की। इसी प्रकार गौतमीय न्याय और बौद्ध न्याय दोनों वादी प्रतिवादी के रूप में बहुत समय तक चलते रहे।

बौद्ध न्याय के आचार्यों में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील आदि का नाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत तर्कभाषा मोक्षाकर गुप्त की रचना है। इसमें बौद्ध दृष्टिकोण से तर्क तथा ज्ञान का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। हरिभद्रसूरि विरचित षड्दर्शन समुच्चय के गुणरत्न रचित तात्पर्यदीपिका नामक टीका में इस ग्रन्थ का निर्देश मिलता है। गुणरत्न का समय १५ वीं शताब्दी में माना जाता है। गुणरत्न ने तर्कभाषा को बौद्ध तर्क के दस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में एक माना हैं। तर्कभाषा नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—केशव मिश्र (१२७५ ई०) द्वारा लिखित तर्कभाषा जिसमें गौतमीय न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन है; जैन तार्किक यशोविजय (१६०८–१६८८) द्वारा रचित तर्कभाषा जिसमें जैन दृष्टिकोण से न्याय का विवेचन किया गया है; और तीसरी मोक्षाकर गुप्त विरचित तर्कभाषा जिसमें बौद्ध दृष्टि से तर्क और प्रमाण का विवेचन किया गया है।

मोक्षाकर गुप्तः—इस ग्रन्थ के प्रणेता पण्डित स्थविर या महापण्डित भिक्षु मोक्षाकर गुप्त हैं। मोक्षाकर गुप्त राजजगद्दल विहार, जो पूर्वीबंगाल (वर्तमान पाकिस्तान) के बोगरा के पास है, में रहते थे। इनका समय १११० ई० के करीब माना जा सकता है। इनके द्वारा लिखित केवल यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है जो बंगाल के पाल राजा के संरक्षण में लिखा गया था। ये तर्क के विषय में

धर्मकीर्ति के अनुयायी प्रतीत होते हैं जो इनके मंगल श्लोक से स्पष्ट हो जाता है जिसमें इन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि बालकों को धर्मकीर्ति का मत बतलाने के लिये तर्कभाषा की रचना हुई है। धर्मकीर्ति के दो ग्रन्थों—प्रमाणवार्तिक तथा न्यायबिन्दु से पर्याप्त उद्धरण इस ग्रन्थमें लिए गए हैं। मोक्षाकरगुप्त ने बौद्ध मत की रक्षा के लिए कुमारिल, त्रिलोचन तथा वाचस्पति एवं अन्य ब्राह्मण तार्किकों के मतों का खण्डन किया है। इस ग्रन्थ के प्रयोजन के सम्बन्ध में ग्रन्थ का उपसंहारात्मक श्लोक अत्यन्त स्पष्ट है जिसमें उन्होंने लिखा है कि यदि इस ग्रन्थ-रचना से मुझे कुछ पुण्य प्राप्त हुआ हो तो वह संसार को दुःख और बन्धन से छुटकारा दिलाने तथा बुद्धत्व प्राप्त कराने का साधन हो। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ-रचना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या हित की दृष्टि से न होकर लोक कल्याण की दृष्टि से हुई है।

प्रस्तुत तर्कभाषा धर्मकीर्ति की तर्क परम्परा का एक लघु ग्रन्थ है। इसमें केवल तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष का निरूपण किया गया है और अन्तिम दो परिच्छेदों में अनुमान का। क्योंकि बौद्ध परम्परा में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो को ही प्रमाण माना जाता है।

भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि या अभाव आदि को भी प्रमाण माना गया है। अतः मोक्षाकर गुप्त ने प्रमाण की परिभाषा के आधार पर अन्य प्रमाणों का खण्डन कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बौद्धमतसिद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ही केवल प्रमाण हो सकते हैं। अन्य को प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। प्रमाण 'अपूर्व विषयक सम्यक् ज्ञान' है और प्रत्यक्ष कल्पना रहित अभ्रान्त स्वलक्षण है। प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है (१) इन्द्रिय ज्ञान; (२) मानस प्रत्यक्ष; (३) स्वसंवेदन तथा (४) योगिज्ञान। प्रथम परिच्छेद में इन्हीं सब बातों की चर्चा की गयी है।

द्वितीय परिच्छेद में स्वार्थानुमान का विवेचन किया गया है। नव्यन्याय के समान बौद्धन्याय में भी अनुमान के दो भेद माने गये हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान एक मानसिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति को अनुमेय विषय का ज्ञान होता है और परार्थानुमान दूसरे को बोध

कराने के लिए प्राप्त ज्ञान की शब्द द्वारा अभिव्यक्ति है। अनुमान का कारण हेतु तीन प्रकार का माना जाता है। स्वभाव हेतु, कार्य हेतु तथा अनुपलब्धि हेतु। इन्हीं तीनों के आधार पर अनुमान संभव होता है। इन तीन हेतुओं से तीन वर्ग के परामर्श वाक्य हो जाते हैं। इन परामर्श वाक्यों का निरूपण उचित उदाहरणों के साथ किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में परार्थानुमान का विवेचन किया गया है। हेतु अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मता आदि विशेषताओं से विशिष्ट होकर साध्य का साधक होता है। अतः इन तीन रूपों में हेतु का कथन ही परार्थानुमान कहा जाता है। वह अपनी प्रक्रिया में दो प्रकार का होता है— साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् जिनका अति संक्षिप्त निरूपण किया गया है। पूर्व परिच्छेद में वर्णित स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि हेतु के साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् प्रयोग की व्याख्या के प्रसंग में मोक्षाकर गुप्त ने बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद का विवेचन, नैयायिकों के ईश्वर साधक अनुमान का खण्डन तथा बौद्ध दर्शन के चारों सम्प्रदायों के मत में सिद्ध परतत्व के स्वरूप का विवेचन किया है; साथ ही साथ बौद्धमतसिद्ध व्याप्ति ग्रहण प्रमाण एवं हेत्वाभास आदि का निरूपण भी किया है।

इस लघुकाय बौद्ध तर्कभाषा में बौद्ध तर्क के आवश्यक समस्त अंगों पर संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में 'अनेकान्तवादनिरास' शीर्षक से जो अंश दिया गया है वह जितारिपाद की कृति है। जितारिपाद का समय ९४० से ९८० के मध्य माना जाता है। इसमें जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का खण्डन किया गया है। यह अंश पूर्व ग्रन्थ का पूरक ही कहा जा सकता है, क्योंकि पहले अन्य मतों के खण्डन के प्रसंग में जैन के अनेकान्तवाद का खण्डन नहीं किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में मूल के साथ हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। संस्कृत की थोड़ी जानकारी रखने वाले पाठकों को भी बौद्ध न्याय समझने में यह सहायक सिद्ध हो सकता है। अनुवाद भाषा और विषय दोनों को ध्यान में रख कर किया गया है जिससे वह ग्रन्थ को लगाने तथा विषय को समझने में सहायक बन सके।

रघुनाथ गिरि

विषयानुक्रमणी

प्रथमः परिच्छेदः

द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः

प्राक्कथन

(बौद्धन्याय)

प्राचीन भारतीय दर्शनों का प्रज्ञा-प्रकर्ष बौद्धों की दार्शनिक स्थापनाओं एवं उनके आदान-प्रदान से ही संभव हो सका था। इसीलिये भारतीय दर्शनों की गरिमा समझने में बौद्ध विचारों का अपरिचय बहुत बड़ा बाधक है। इधर बौद्ध ग्रन्थों के मिलने से तथा यत्र-तत्र विश्वविद्यालयों में उसके अध्ययन अनु-सन्धान आदि के प्रबन्ध होने से यह अपरिचय जैसे-जैसे कम होता जा रहा है वैसे-वैसे भारतीय दर्शनों के गूढ़ तत्त्व को समझने में सहायता मिल रही है। बौद्ध दर्शन के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के समक्ष उसके यथावत् ज्ञान करने में दो प्रकार की विशेष कठिनाइयाँ रहती हैं—एक ओर बौद्ध पारिभाषिक शब्दों से दूसरी ओर अन्य दर्शनों में प्रयुक्त कुछ समान शब्दों का बौद्ध दर्शन में भी प्रयोग होने से। समान दार्शनिक समस्याओं पर विचार करते समय समान शब्दों का प्रयोग करना भारतीय विचारकों के लिये अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता, किन्तु इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह समझने के लिये सचेष्ट रहना होगा कि दर्शनों में समान शब्द समान अभिप्राय को ही नहीं बताते। यह बात बौद्ध दर्शन के लिये विशेष रूप से लागू होती है, क्योंकि शताब्दियों से बौद्ध विचारों से अपरिचय के कारण तथा एक मात्र बौद्धेतर शास्त्रों के ही मनन-लेखन आदि के कारण समान शब्दों में बौद्धेतर संस्कार प्रायः रूढ़ हो चुके हैं। आजकल ही नहीं, पिछली शताब्दियों में कुछ प्राचीन बौद्धेतर आचार्यों के द्वारा भी समान शब्दों के कारण बौद्ध सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ अर्थभ्रान्तियाँ हुई हैं, जिनसे बौद्ध दर्शन के अध्येताओं को सदा बचना होगा।

साधना का विषय यदि छोड़ दें तो दर्शन के क्षेत्र में चाहे प्रमाण-मीमांसा हो या प्रमेय-व्यवस्था, सभी में अन्य प्राचीन दर्शन—सांख्य, वैशेषिक, न्याय, शाब्दिक और मीमांसक आदि से बौद्धों का मौलिक भेद है। दर्शन और न्याय

के क्षेत्र में मौलिक अन्तर का कारण बौद्धों का वेद, ईश्वर, आत्मा आदि का विरोध ही नहीं है, प्रत्युत अनित्यता, क्षणभंगता, शून्यता, विज्ञप्तिमात्रता आदि की स्थापना भी है। इन विरोधों और स्थापनाओं को दृष्टि में रख कर ही बौद्ध आचार्यों ने प्रमाण लक्षण और प्रमाण-व्यवस्था आदि की है। इसलिये बौद्ध न्याय के पाठक को बौद्ध दर्शन के इस प्रस्थान-विशेष की ओर विशेष ध्यान रखना होता है। इस प्रसङ्ग में एक बात में और स्पष्टता होनी चाहिये कि बौद्ध न्याय का सही मूल्याङ्कन होना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक सम्पूर्ण भारतीय न्यायों के बीच उसका विकास-क्रम न देखा जाय। इसके अभाव में लक्षणों में निर्दिष्ट विशेषणों का स्वारस्य जानना कठिन होगा, फिर अन्य दर्शनों से इसका तात्त्विक भेद समझना या उनके साथ बौद्धों का आदान-प्रदान समझना तो सम्भव ही न होगा।

सामान्यत: प्रमाणों की मीमांसा के लिये प्रमेय के सम्बन्ध में वस्तुसत्तावादी होना आवश्यक समझा जाता है। बौद्धेतर दर्शनों में वैशेषिक, गौतमीय, मीमांसक, जैन आदि की प्राय: यही स्थिति है। इस दृष्टि से भी बौद्ध दर्शन में कुछ भिन्नता है। बौद्ध नैयायिक—सर्वास्तिवादी, वैभाषिक और सौत्रान्तिक आदि का वस्तुवाद वैशेषिकादि के समान स्थिर या नित्य नहीं है प्रत्युत क्षणभंगी तथा सर्वथा अनित्य है, तथापि ये लोग वस्तुवादी हैं, किन्तु बौद्ध न्याय का उत्कर्ष तब होता है जब अवस्तुवादी बौद्धों ने उसे अपना क्षेत्र बनाया। इस प्रकार बौद्धों की यह विशेषता है कि वे प्रमेयों की वस्तुसता न स्वीकार करते हुए भी प्रमाणव्यवस्थापन करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रमाणव्यवस्था विशुद्ध रूप से ज्ञान-क्षेत्र की समस्या है, अत: बाह्य-प्रमेय-सत्तावाद इसके उत्कर्ष का बाधक है। दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति आदि प्रधान बौद्ध नैयायिक विज्ञानवादी ही हैं, जो बाह्यार्थ को स्वीकार न करते हुए भी ऐसी प्रमाण व्यवस्था करते है जो बाह्यार्थवादी को भी सहमत[1] हो। तर्कभाषाकार मोक्षाकर गुप्त भी विज्ञानवादी हैं, प्रमेयद्वय

---

१. अस्त्येव विदुषां वादो बाह्यं त्वाश्रित्य वर्ण्यते।
द्वैरूप्यं सहसंवित्तिनियमात् तच्च सिध्यति ।। (प्र. वा. २.३९८)

के आधार पर प्रमाणद्वय की व्यवस्था करते हैं और तदनुरूप ही प्रमाण का लक्षण भी करते हैं। इस प्रकार बौद्ध न्याय को समझने के लिये उन के वस्तुवादी एवं अवस्तुवादी रूप पर तथा प्रमाण चर्चा काल में दोनों पर लागू होने वाले समान लक्षणों पर ध्यान देना होगा।

बौद्धों की प्रमाण पटुता सर्वप्रसिद्ध है। भगवान् बुद्ध के तत्त्वज्ञान के पीछे उसे सर्वजन में प्रचार करने की तीव्र प्रेरणा थी। स्वमत की स्थापना, परमत खण्डन के बिना सम्भव नहीं थी, इसलिये बुद्ध ने स्वयं अपने समसामयिक मतों की खुली आलोचना की और अपने अनुयायियों को इसके लिये प्रेरित किया। पालित्रिपिटक में सर्वत्र ही उनके प्रभावकारी प्रवचन एवं तर्कपूर्ण शैली में वाद करने की विधि परिलक्षित होती है। उदान के आयुसंखारोस्सज्जनसुत्त के (६.१) अनुसार बुद्ध के अतिवृद्ध हो जाने पर एक बार मार ने पुनः आक्रमण किया और कहा कि अब आप आयु संस्कार समाप्त कर निर्वाण लाभ कर लें। उसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—'न तावाहं पापिम,परिनिब्बायिस्सामि याव मे भिक्खू···उप्पन्नं परप्पवादं सहधम्मेन सुनिग्गहितं निग्गहेत्वा सप्पाटिहारियं धम्मं देसेस्सन्ती 'ति' जब तक हमारे भिक्षु तर्क और युक्ति में इतने पटु नहीं हो जायेंगे कि प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये प्रश्नों का पूर्ण समाधान कर सकें और अपने सिद्धान्त को स्थापित कर सकें तब तक मैं निर्वाण लाभ नहीं करूँगा। आचार्य धर्मकीर्ति अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में (१।२८७) बौद्ध प्रमाणमीमांसा का सम्बन्ध बुद्ध बचनों से स्थापित करते हुए कहते हैं कि 'यत्किञ्चिद् उदयधर्मकं तत्सर्वं निरोधधर्मकम्' इत्यादि वचनों द्वारा बुद्ध ने उत्पत्ति एवं निरोध रूप साध्य-साधन के बीच व्याप्ति बता कर अनुमान का प्रयोग प्रदर्शित किया है तथा इससे व्याप्ति का अविनाभावित्व लक्षण स्फुट किया है। धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र में बुद्ध ने आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों में 'सम्यग्दृष्टि' (सम्मादिट्ठि) को सर्व प्रथम एवं सर्व प्रमुख स्थान दिया। सम्पूर्ण बौद्ध न्याय में एक प्रकार से इसी सम्मादिट्ठि का विकास हुआ है। धर्मकीर्त्ति के अनुसार सभी पुरुषार्थों की सिद्धि, किसी वस्तु का ग्रहण या त्याग सम्यग्दृष्टि से ही सम्भव है। इसलिए सभी बौद्ध एक स्वर से प्रमाण का प्रथम एवं प्रकट लक्षण 'सम्यग् ज्ञान' करते हैं और बाद में उसके सम्यक्त्व की विशद व्याख्या करते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से तर्कभाषा का अध्ययन करने के लिये दो चार विषयों पर यहाँ कुछ चर्चा कर लेना उपयोगी होगा। मोक्षाकर गुप्त ने किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिये दो शर्तें लगाई हैं : (१) ज्ञान को सम्यक् होना चाहिये तथा (२) उस ज्ञान का विषय अपूर्व होना चाहिये। सम्यक्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि वह ज्ञान सम्यक् होता है जो अविसंवादी हो। अविसंवादी वह ज्ञान होता है जिससे ज्ञाता को ज्ञान द्वारा बोधित वस्तु मिल जाय। किसी वस्तु के होने में प्रमाण होती है उसकी अर्थक्रियाकारिता। अपने द्वारा सिद्ध होने वाले प्रयोजन को निष्पन्न करा देना किसी वस्तु की अर्थक्रिया है। जल से तृप्ति, अग्नि से ताप होता है, तो वही उनको अर्थक्रिया है और उनकी सत्ता का प्रमाण है। इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु-सत्ता का लक्षण बन जाता है। किसी एक अर्थक्रिया का स्थान दूसरी अर्थक्रिया नहीं ले सकती, इसी लिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से अत्यन्त भिन्न है। इतना ही नहीं कि अर्थ-क्रिया-भेद के कारण घट से पट का भेद होता है अपितु एक रूप में दिखाई देने वाला एक घट भी वस्तुतः एक नहीं है, वह भी भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की निष्पत्ति (अर्थ क्रिया) के कारण भिन्न-भिन्न ही है। अर्थक्रिया के कारण ही वस्तु की क्षणिकता निश्चित होती है। इस प्रकार के वस्तु-स्वभाव को ग्रहण करने वाला ज्ञान अविसंवादी ज्ञान होता है। इस प्रकार के अविसंवादित्व के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने भाष्य के प्रारम्भिक वाक्य में स्वसम्मत प्रमाण का प्रयोजन एवं प्रमात्व का लक्षण बताया है "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति-सामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम्" अर्थात् प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है, अतः जो ज्ञान अर्थवत् होगा और जिसमें अर्थप्राप्ति कराने का सामर्थ होगा वह प्रमाण है। इसी संकेत पर बाद में नैयायिकों ने किसी ज्ञान को प्रमा होने के लिये उसमें सफलप्रवृत्तिजनकता या तद्वति तत्प्रकारकत्व को स्वीकार किया। सामान्यदृष्टि से देखने पर बौद्धों और नैयायिकों के उक्त लक्षणों में कोई मौलिक अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि सफल प्रवृत्ति सामर्थ्य और अर्थवत्तासे अविसंवादकता का जल्दी भेद नहीं हो पाता, किन्तु थोड़ा विवेचन करने पर वह स्पष्ट होने लगता है। अविसंवादक शब्द भी इसको कुछ स्पष्ट करता है। संवाद=जैसा अर्थ वैसा ज्ञान,

विसंवाद = जैसा अर्थ वैसा ज्ञान नहीं; अविसंवाद=जिसमें विसंवाद न हो; यहाँ ध्यान देने की बात है कि बौद्धदृष्टि में अविसंवाद संवाद नहीं है, प्रत्युत विसंवाद का अभाव है। इसका बौद्ध अभिप्राय यह निकलता है कि ज्ञान का अर्थ के साथ संवाद होता है या नहीं; यह किसी ज्ञान के प्रमा होने के लिये इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि दोनों में विसंवाद का न होना। बौद्ध क्षणभङ्गवादी हैं, अतः उनकी दृष्टि में किसी वस्तु की सत्ता का अर्थ है—उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका विनाश, क्योंकि उन के मत में सत् होने के कारण उत्पत्ति सहेतुक और असत् होने के कारण विनाश अहेतुक होता हैं। उत्पत्त्यनन्तर विनाश को वह 'क्षण' शब्द से कहते हैं, और उसी अर्थ में क्षणिक शब्द का भी प्रयोग करते हैं। वस्तु-स्वभाव के इस विश्लेषण से एक निष्कर्ष फलित होता है कि ज्ञान जिस वस्तु का ग्रहण करता है उसी का वह निश्चय नहीं करता और न तो उसे प्राप्त ही करता है,क्योंकि वस्तु क्षणिक होने के कारण देखने के साथ ही उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकती है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि क्या जो देखा जाता है वह प्राप्त नहीं किया जाता ? बौद्धों का उत्तर है कि अवश्य ही दूसरा देखा जाता है और दूसरा प्राप्त किया जाता है। सत्य तो यह है कि ज्ञान जिसे देखता है उसी का निश्चय नहीं करता, अन्य को देखता है और अन्य का निश्चय करता है। प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में तो ज्ञान पर से विश्वास ही उठ जायेगा, उसका प्रभाव होना तो दूर रहा। इस पर बौद्धों का उत्तर है कि वस्तुतः ज्ञान और प्राप्त वस्तु एक नहीं होती किन्तु निरन्तर भिन्न भिन्न सजातीय वस्तुक्षणों की उत्पत्ति के कारण "यह वही है जिसे हमने देखा है" इस प्रकार भिन्नों में नैरन्तर्य के कारण एकत्व निश्चय होता है। इस प्रकार व्यक्ति को निश्चित बोध होता है कि जिसे हमने देखा उसे ही प्राप्त किया। इस प्रकार के एकत्वाध्यवसाय से ही किसी ज्ञान का प्रमात्व या सम्यक्त्व निश्चित होता है और इसी से सभी व्यवहार प्रामाणिक बनते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिये अर्थ के साथ विसंवादमात्र नहीं होना चाहिये। ज्ञान का अर्थ के साथ संवाद होता है तो केवल इस अर्थ में कि ज्ञान अर्थ को ग्रहण करता है। इस अर्थ में नहीं कि वह गृहीत अर्थ का निश्चय भी करता है। इस संक्षिप्त विश्लेषण में ज्ञान के प्रमाण होने के लिये बौद्धों के दो प्रतिबन्धों 'अविसंवादित्व' तथा

'अपूर्वगोचरत्व' का स्पष्टीकरण हो जाता है। क्षणभंगवाद में प्रत्येक प्रमाण ज्ञान अपूर्व विषय का ग्रहण करता है जो पहले से ज्ञात नहीं है। इसलिये जो ज्ञान पहले से ज्ञात अर्थ का ज्ञापन करेगा वह कथमपि प्रमाण नहीं हो सकेगा। इस दृष्टि से स्थिर वस्तुवादी नैयायिकों का प्रमाण-लक्षण बौद्धों से अत्यन्त विपरीत हो जाता है क्योंकि स्थिर वस्तुवाद में ही तत् में तत्प्रकारक ज्ञान संभव हो सकता है जब कि बौद्धों की क्षणिकता की दृष्टि से वस्तुत: अतत् में ही तत् का निश्चय होता हैं। 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' या 'सफल प्रवृत्तिजनकता' के कारण ज्ञात होता है कि प्रमा को 'प्रवर्त्तक' अवश्य होना चाहिये। बौद्ध प्रवृत्ति या प्राप्ति को ज्ञान के क्षेत्र से बाहर का मानते हैं। ज्ञान प्रवर्तक हो या नहीं, प्रवृत्ति सफल हो या नहीं; इससे प्रमाण का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। किसी विषय के ज्ञान होने के अनन्तर किसी कारण से कोई प्रवृत्त हो अथवा नहीं, प्रवृत्त होकर भी किसी कारण से सफल हो अथवा नहीं वह ज्ञान अपने में यथार्थ हो सकता है। ज्ञान के प्रामाण्य के प्रसङ्ग में जब बौद्ध उसके प्रवर्तक होने या अर्थ-प्रापक होने की चर्चा करते हैं तो उसका अभिप्राय विशेष बोध या अधिगति से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिये अविसंवादी होना आवश्यक है, अविसंवादित्व की कसौटी अर्थक्रियाकारित्व है, अर्थक्रियाकारित्व ज्ञेय का स्वरूपावबोध मात्र है। यही प्रमा की प्रवर्तनता या प्रापकता है। इस प्रकार अर्थवत्ता सामान्यतया प्रमात्व या सम्यग्ज्ञान के लिये आवश्यक है किन्तु बौद्ध और नैयायिकों में अर्थ के स्वरूप, उसके ग्रहण और निश्चय के प्रकार में अन्तर होने के कारण दोनों में अनेक प्रकार के भेद हो जाते हैं।

बौद्धमत में ज्ञेयस्वरूपावबोध ही जब अर्थक्रियाकारित्व है और उसके आधार पर ही ज्ञान का अविसंवादित्व या सम्यक्त्व निश्चित होना है तब प्रश्न होता है कि क्या बौद्धमत में सभी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साधनों के आधार पर स्वत: ही प्रमाण हो जाते हैं, या उसके लिये स्वातिरिक्त साधनों की अपेक्षा होती है? इस सम्बन्ध में प्राचीन दार्शनिकों में मीमांसक एवं किसी अर्थ में सांख्य को छोड़कर प्राय: सभी परत: प्रामाण्यवादी हैं जो प्रमाणगत प्रामाण्य के निश्चय के लिए स्वातिरिक्त साधनों को आवश्यक समझते हैं। बौद्ध गौतमीय

नैयायिकों और कुमारिल आदि की तरह ज्ञान को परवेद्य नहीं मानते प्रत्युत स्वसंविदित मानते हैं। स्वसंविदित मान कर भी उसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में स्वतस्त्व से बँधे नहीं है। इस सम्बन्ध में बौद्ध अनियमवादी हैं। किसी विषय के सम्बन्ध में यदि पहले से ज्ञाता को अभ्यास है जैसा कि जौहरी को विभिन्न मणियों की पहचान में; ऐसी अवस्था में प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः आ जाता है, किन्तु अनभ्यस्त दशा में प्रामाण्य सन्दिग्ध रहता है इसलिये वहाँ स्वातिरिक्त अर्थ-क्रियाज्ञान अथवा अनुमान की अपेक्षा होगी। जिस प्रकार सम्यग् ज्ञान या प्रमात्व के सम्बन्ध में उसी प्रकार प्रमाणों की संख्या, उनके विषय, उनके लक्षण और प्रमाण फल आदि के सम्बन्ध में भी अन्य दार्शनिकों से बौद्धों का मतभेद है। इन विषयों का किंचित् विहंगावलोकन कर लेना चाहिए।

प्रमाण-संख्या

बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो प्रमाण मानते हैं जबकि लोकायतिक केवल प्रत्यक्ष, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, प्राचीन वैशेषिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आर्ष (शब्द), गौतमीय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, मीमांसकों में प्रभाकर चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति तथा कुमारिल उसके बाद भी अनुपलब्धि जोड़कर छः प्रमाण बताते हैं। अन्य वादियों में परस्पर भेद के अनेक कारण हैं किन्तु बौद्धों से इन सभी लोगों का जो मौलिक अन्तर है वह प्रायः समान ही है।

'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमेयों का निर्धारण प्रमाणों के अधीन होता है—यह सिद्धान्त बौद्ध बौद्धेतर प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु बौद्ध आचार्य प्रमेयों के आधार पर प्रमाणों को भी नियन्त्रित करने के पक्ष में हैं। इस प्रकार उनके मत में 'मेयाधीना मानसिद्धिः' का सिद्धान्त भी मान्य हो जाता है। बौद्धमत में प्रमाण के विषय दो प्रकार के हैं—(१) स्वलक्षण, तथा (२) सामान्य लक्षण। जब दो ही विषय हैं तो उनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही होने चाहिये। स्वलक्षण को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष तथा सामान्य लक्षण को ग्रहण करने वाला अनुमान। नैयायिक और मीमांसकादि की तरह बौद्ध सामान्य-विशेषात्मक कोई एक पदार्थ नहीं मानते, क्योंकि वे सामान्य और विशेष को परस्पर में अत्यन्त विरोधी मानते हैं। इसलिये वे किसी तरह उनकी एकात्मता

स्वीकार नहीं करते। नैयायिकादि प्रमाणों की संख्या और विषय के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्यक्ष विशेष को ही ग्रहण नहीं सामान्य को भी ग्रहण करता है और इसी प्रकार अनुमान भी विशेष और सामान्य दोनों का ग्रहण करता है। इतना ही नहीं उनके मत में किसी एक विषय को अनेक प्रमाण ग्रहण करते हैं और विषय अनेक प्रमाणों द्वारा ज्ञात होते हैं। बौद्ध किसी प्रकार के साङ्कर्य के पक्षपाती नहीं हैं। प्रमाण अपने निश्चित प्रमेय का ही ग्रहण करता है और एक प्रमेय के अनेक प्रमाण ग्राहक नहीं हो सकते। बौद्धों के अनुसार यदि प्रमाण-सांकर्य और प्रमेय-सांकर्य माना जाय तो प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था नहीं बन सकती और प्रत्येक प्रमाण की अनिवार्यता नहीं रह जायेगी। इस प्रकार प्रमाण संख्या के सम्बन्ध में नैयायिकादि विप्लवादी या सांकर्यवादी हैं तथा बौद्ध व्यवस्थावादी।

प्रमाणों का विषय

पहले कहा गया है कि नैयायिक मीमांसकादि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ और उनका प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा ग्रहण मानते हैं, जबकि बौद्ध स्वलक्षण और सामान्य लक्षण दो ही विषय और उनके ग्राहक क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान को ही मानते हैं। स्वलक्षण का अर्थ है—स्व = असाधारण, लक्षण = तत्त्व या स्वरूप, अर्थात् वस्तु का असाधारण स्वरूप या एकमात्र विशेष। सामान्य लक्षण का अर्थ है—सामान्य = साधारण या समारोपित, लक्षण = तत्त्व या स्वरूप। विषय के दो ही प्रकार हो सकते हैं, सदृश और असदृश। स्वलक्षण वस्तु का असदृश तत्त्व है क्योंकि वह सर्वतो व्यावृत्त होकर केवल स्वनिष्ठ होता है। अन्य व्यक्ति साधारण होने से सामान्य सदृश होता है। इसीलिये स्वलक्षण कथमपि शब्द द्वारा बोधित नहीं हो सकता, जबकि सामान्य शब्द विषय बनता है। स्वलक्षण अपनी उपस्थिति-अनुपस्थिति से ज्ञान-प्रतिभास में भेद उत्पन्न करता है। सामान्य आरोपित होता है, इसलिये उसके सन्निधान-असन्निधान से न तो ज्ञान-प्रतिभास में भेद उत्पन्न होता है और न उसके कारण ज्ञान में स्फुटता या अस्फुटता ही आती है। सौत्रान्तिकों के मत में स्वलक्षण की परमार्थसत्ता मानी जाती है और सामान्य लक्षण की सांवृतिक या काल्पनिक। स्वलक्षण की पर-

मार्थसत्ता इस अर्थ में है कि वह अर्थक्रिया में समर्थ होता है अर्थात् उसके कारण ज्ञान को स्पष्ट आकार मिलता है। सामान्य अर्थक्रिया में अशक्त इसलिये होता है कि वह विध्यात्मक रूप से नहीं प्रत्युत इतरव्यावृत्ति के माध्यम से कल्पित संकेत द्वारा वस्तु का निश्चय कराता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि सामान्य अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है, तो यही स्थिति द्विचन्द्र दर्शन, पीत-शंख दर्शन आदि भ्रम ज्ञानों की भी है; तो क्या द्विचन्द्रादि की सामान्य सत्ता मान्य है? उसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि हम अर्थक्रिया की शक्तता अशक्तता के आधार पर वस्तु का स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण के रूप में विभाजन करते हैं। भ्रम विषय में तो जब अर्थ-बुद्धि ही नहीं होती तो उसे सामान्य होने का अवसर ही कहाँ है।

पहले कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु के दो तत्त्व होते हैं एक असाधारण दूसरा साधारण, साथ ही यह भी कहा गया है कि इन्हें क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान ही पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करते हैं। इस मान्यता में एक भ्रम होने की संभावना है कि जब प्रत्येक वस्तु के दो तत्त्व हैं तो प्रत्येक प्रमाण उन दोनों को ग्रहण क्यों नहीं करेंगे? स्थिति स्पष्ट है. प्रमाण का एक ग्राह्य विषय होता है और दूसरा अध्यवसेय ग्राह्य और अध्यवसेय सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। ग्राह्य सदा स्वलक्षण होता है और अध्यवसेय सदा सामान्य लक्षण। प्रत्यक्ष का ग्राह्य घट स्वलक्षण है, उसके अनन्तर एक बौद्धिक विकल्प होता है जिससे वह घट स्वभिन्न सकल वस्तुओं से व्यावृत्त किया जाता है, यह व्यावृत्ति ही सामान्य है जिस के आधार पर यह निश्चय होता है कि यह निश्चयेन घट है। इस व्यावृत्ति से वस्तु ही व्यावृत्त की जा सकती है, कभी भी अवस्तु व्यावृत्त नहीं होती, इसलिये सामान्य व्यावृत्तिरूप है किन्तु अवस्तु नहीं है, यद्यपि स्वलक्षण की तरह परमार्थसत् वस्तु भी नहीं है कि वह प्रमाणों का ग्राह्य बन सके। प्रत्यक्ष की तरह अनुमान के भी ग्राह्य और अध्यवसेय दो भिन्न विषय होते हैं। प्रत्यक्ष से इसकी ग्राह्यता में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रत्यक्ष का दृश्य साक्षात् एवं स्फुट होता है किन्तु अनुमान का ग्राह्य आरोपित होने के कारण दृश्यत्वेन कल्पित होता है, अनन्तर इतरव्यावृत्ति के माध्यम से व्याप्ति द्वारा अदृश्य साध्य का निश्चय होता है।

प्रत्यक्ष और अनुमान

प्रत्यक्ष शब्द का बौद्ध सम्मत अर्थ है—अर्थ साक्षात्कार। नैयायिकादि दार्शनिकों ने अक्षाश्रित ज्ञान के अर्थ में प्रत्यक्ष का प्रयोग किया है। इसी लिए उन लोगों ने प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान किया। अर्थ साक्षात्कार अर्थ करने के कारण बौद्धों ने इन्द्रिय विज्ञान के अतिरिक्त अन्यविध प्रत्यक्ष के प्रकार—स्वसंवेदन, मानस और योगिज्ञान को भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत किया। परवर्ती नैयायिकों को भी मानस एवं योगिज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानना पड़ा, किन्तु न्याय दर्शन के प्रत्यक्ष सूत्र में इसका उल्लेख न रहने के कारण भाष्यकार, वार्तिककार और तात्पर्यटीकाकार को अनेकधा व्याख्यानान्तर करना पड़ा। बौद्ध सम्मत उपर्युक्त चतुर्विध ज्ञानों का संग्रह करने वाला एक प्रत्यक्ष लक्षण है—कल्पनापोढमभ्रान्तम् प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पनास्वभाव-रहित होना चाहिये और उसे अर्थक्रियाक्षम वस्तु में किसी प्रकार विपर्यस्त या भ्रान्त नहीं होना चाहिये। कल्पनाराहित्य ही बौद्धों के प्रत्यक्ष लक्षण का हृदय है। कल्पना है—वाचक शब्द से वाच्य अर्थ का सम्बंध हो जाना। यदि एक ज्ञान में अभिधेय वस्तु के आकार के साथ अभिधान (वाचक शब्द) का आकार मिल जाय तो उसे कल्पना ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को इस प्रकार की कल्पना से रहित होना चाहिये। यहाँ तक कि उसमें कल्पना होने की संभावना या योग्यता भी नहीं रहनी चाहिये। इस प्रकार बौद्ध मत में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही मान्य है। वैयाकरण तथा चार्वाक प्रत्यक्ष को सविकल्पक ही मानते हैं। नैयायिक और मीमांसक निर्विकल्पक सविकल्पक दोनों मानते हैं। स्थिरवस्तुवाद में जिस वस्तु का निर्विकल्प ज्ञान उसी का सविकल्पक ज्ञान हो सकता है किन्तु बौद्धों के क्षण-भङ्ग वाद में यह कथमपि संभव नहीं है। बौद्ध मत में भी एक प्रकार का सविकल्प होता है जिसे प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहते हैं, उससे प्रत्यक्ष स्थल में वस्तु का निश्चय होता है, किन्तु यह नैयायिकादि के सविकल्पक प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न है।

अनुमान ज्ञान लिङ्ग (हेतु) ग्रहण और साध्य-साधन के सम्बन्धस्मरण

(व्याप्ति ज्ञान) के पश्चात् होता है। धूम का पर्वत में (पक्ष-धर्म) ग्रहण और साध्य-साधन के सम्बन्ध स्मरण के पश्चात् इस मान के होने से इसे अनु-मान कहते है। अनुमान के दो भेद हैं स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक और परार्थानुमान शब्दात्मक होता है। अनुमान का स्वार्थ परार्थ भेद बौद्धो के अनुकरण के आधार पर बाद में नैयायिकों में भी प्रचलित हुआ। मीमांसक अनुमान को दुर्बल एवं प्रत्यक्ष को प्रबल प्रमाण मानते हैं, इसीलिये बौद्धेतर प्राय: सभी दार्शनिक प्रत्यक्षविरोध में अनुमान से अर्थ निश्चय नहीं मानते। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान को तुल्यबल मानते हैं क्योंकि दोनों ही समान रूप से अर्थाविनाभावी होते है और अर्थ प्राप्त कराते हैं। इस सम्बन्ध में यह बौद्ध मत स्पष्ट ही है कि दोनों प्रमाणों का विषय अत्यन्त भिन्न है, अत: अपने अपने क्षेत्र में दोनों प्रबल हैं। अनुमान के लिये हेतु एवं व्याप्ति ज्ञान का सर्वोपरि महत्त्व है। हेतु तीन प्रकार के होते हैं—कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि। इनमें कार्य और स्वभाव विध्यात्मक या विधि हेतु हैं और अनुपलब्धि निषेध हेतु है। नैयायिकों के समान अभाव को पदार्थ मानना तथा उसके ग्रहण के लिये विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष स्वीकार कर उसका प्रत्यक्ष मानना, मीमांसकों के समान अभाव ज्ञान के लिये अनुपलब्धि को अतिरिक्त प्रमाण मान लेना बौद्धों को सम्मत नहीं है। बौद्ध लोग अभाव की सत्ता स्वीकार करना अदार्शनिकता मानते हैं, केवल अभावप्रतीति का निश्चय अनुपलब्धि हेतु के द्वारा अनुमान से करते हैं।

अनुमान के लिये तीन ही हेतु क्यों स्वीकार किये जाते हैं? इसके उत्तर में बौद्ध नैयायिक स्वभावप्रतिबन्धतारूप व्याप्ति का नियम प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में साधन साध्य को तभी निश्चित कर सकता है, जब दोनों के बीच स्वभावप्रतिबद्धता या प्रतिबद्धस्वभावता हो। हेतु साध्य के साथ स्वभावप्रतिबद्ध जिन दो स्थितियों में होता है वे हैं—तादात्म्य या तदुत्पत्ति। या तो साध्य का स्वभाव ही हेतु का स्वभाव हो अर्थात् उन दोनों का अभेद या तादात्म्य हो, या तो साध्य से हेतु की उत्पत्ति हो। यहाँ एक शंका हो सकती है कि साधन यदि साध्य स्वभाव ही हो जायगा तो वह साध्य का एक देश ही होगा इस स्थिति में उस साधन से साध्य की सिद्धि का क्या अर्थ होगा? इसके उत्तर में बौद्ध लोग कहते हैं कि तादात्म्य

स्थल में पारमार्थिक रूप से साध्य साधन का अभेद ही रहता है किन्तु उनमें विकल्पकृत भेद भी माना जाता है, और उसी के आधार पर साध्य साधन में भेदगर्भित गम्यगमकभाव बनता है। इस प्रकार निश्चयारूढ़ रूपों की अपेक्षा से भेद किन्तु वास्तविक अभेद माना जाता है। तदुत्पत्ति तो दो भिन्नों में मानी ही जाती है। इस प्रकार लिङ्ग यदि साध्य से उत्पन्न है तो भी साध्य और साधन में स्वभावप्रतिबन्ध निर्बाध रूप से बनता है। इस प्रकार तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के आधार पर अविनाभाव रूप व्याप्ति सिद्ध होती है। बौद्ध लोग इसी अनिवार्य एवं अव्यभिचरित नियम के आधार पर दो विधि हेतु और एक निषेध हेतु स्वीकार करते हैं।

प्रमाण-लक्षण

प्रत्यक्ष अनुमान दोनों पर लागू होने वाला प्रमाण लक्षण है—अर्थसारूप्य। अर्थ के साथ ज्ञान का जो सादृश्य होता है, वही प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस विषय से जो ज्ञान उत्पन्न है वह उस विषय के सदृश होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ हुआ विषय के आकार के समान ज्ञान का उत्पन्न होना। प्रत्यक्ष से जब नील सादृश्य अनुभूत होता है तब 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान व्यवस्थापित होता है। अनुमान ज्ञान भी नीलाकार उत्पन्न होकर नील-बोध निश्चित करता है। इस सारूप्यलक्षण प्रमाण से यह भी सिद्ध होता है कि बुद्धि ही प्रमाण है, इन्द्रियादि प्रमाण नहीं है जैसा कि नैयायिकादि स्वीकार करते हैं। बौद्ध कहते हैं कि हेय या उपादेय वस्तु के त्याग या ग्रहण करने का अतिशय साधक ज्ञान ही है, अतः वही प्रमाण है। इन्द्रिय के रहते हुए भी प्रवृत्ति नहीं होती यदि तद्विषयक बुद्धि न हो। यह ठीक है कि प्रत्येक अर्थ और प्रत्येक इन्द्रिय के भेद से ज्ञान का भेद होता है तथापि विषय सारूप्य के बिना तो ज्ञानविशेष निर्दिष्ट ही नहीं हो सकता।

प्रमाण-फल

ऊपर कहा गया है कि अर्थसारूप्य के कारण कोई ज्ञान प्रमाण होता है, और यह अर्थसारूप्य ही उसके अविसंवादित्व को सुरक्षित रखता है। प्रश्न होता

है कि सारूप्यबुद्धि जब प्रमा का करण है तो उससे भिन्न उसका फल क्या है ? नयायिकादि दार्शनिक प्रमाण से प्रमाण-फल को भिन्न मानते हैं,क्योंकि फल करण से साध्य होता है, अतः उसे करण से भिन्न होना चाहिये। नैयायिक करण, व्यापार और फल तीनों को क्रमवर्ती और भिन्न-भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार कुठार, उससे होने वाला व्यापार और उससे उत्पन्न फल यानी द्विधाभाव (कट जाना) सभी भिन्न-भिन्न हैं। बौद्ध ज्ञान को ही प्रमाण और उसे ही फल मानते हैं। बौद्ध कहते हैं कि कुठार और उससे उत्पन्न छिदा में कार्य-कारण भाव विशेष है किन्तु प्रमाण और प्रमाण फल ज्ञान क्षेत्र की बात है, इसमें कार्य कारण भाव की जगह व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव स्वीकार करना चाहिये। व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव अज्ञात रह कर चरितार्थ नहीं हो सकते। व्यवस्थापक या व्यवस्थापन हेतु नीलसारूप्य है और व्यवस्थाप्य नीलसंवेदन है। नील सादृश्य का अनुभव करके ज्ञान नील का ग्राहक बनता है इस प्रकार अनुभूत नील-सारूप्य व्यवस्थापक है और उससे नील संवेदन रूप जो ज्ञान व्यवस्थापित होता है वह व्यवस्थाप्य है। इस प्रकार एक ही ज्ञान का एक रूप व्यवस्थापक एवं दूसरा रूप व्यवस्थाप्य हो तो कोई विरोध नहीं आता। शब्द-संकेत के आधार पर यदि कहें तो सारूप्य असारूप्यों से व्यावृत्त होकर ज्ञान का व्यवस्थापक होता है और अनील बोध से व्यावृत्त होकर नीलबोध व्यवस्थाप्य होता है।

प्रमाण का यह लक्षण बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों में समान रूप से लागू होता है। बाह्यार्थवाद में बाह्य ग्राह्याकार ही सारूप्य है, वह अपने ज्ञान को अर्थज्ञान के अनुरूप करता है अतः वह अर्थाविसंवादो होने के कारण प्रमाण होता है और बाह्यार्थ प्रमेय होता है। विज्ञानवाद में यह और भी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि वहाँ ग्राह्याकारता बुद्धि का ही परिच्छेद है, उसी के कारण अन्य-व्यावृत्त होकर वस्तुविशेष का परिच्छेद होता है, और परिच्छेद ही ज्ञान का फलरूप आत्मवेदन है। इस प्रकार जब परिच्छेद से ही आत्मवेदन व्यवस्थित होता है, तब वह अवश्य फलभूत आत्मवेदन का साधन एवं प्रमाण मान लिया जायगा।

इस प्राक्कथन में बौद्ध न्याय के प्रारम्भिक अध्येता को ध्यान में रख कर

कुछ अतिस्थूल विषयों पर अतिसंक्षिप्त रूप में विवेचन किया गया है। इससे उन्हें अन्य भारतीय न्यायों के बीच बौद्ध न्याय की स्थिति का अंदाज लगेगा तथा बौद्ध न्याय के प्रति अपरिचय-जन्य उदासीनता भी कम होगी। इस समय मोक्षाकार गुप्त की तर्क भाषा ही एक ऐसा छोटा उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें स्वमत के स्थापन के साथ साथ परमत के सम्बन्ध में कुछ आलोचना है उपलब्ध पुस्तकों में धर्मकीर्ति का हेतुविन्दु, न्यायविन्दु आदि छोटे अवश्य हैं किन्तु प्रकरण ग्रन्थ होने के कारण उनमें केवल न्यायांश पर ही विचार किया गया है। तर्कभाषा का भी मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण मीमांसा है, उसे समझने के लिये उपलब्ध पुस्तकों में न्यायविन्दु, उसकी धर्मोत्तर टीका तथा उस पर दुर्वेक मिश्र की धर्मोत्तर प्रदीप टीका से सहायता लेनी चाहिये।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

जगन्नाथ उपाध्याय
२०।११।६८

संकेतविवरणम्

तत्त्वसंग्रह	= (तसं०)
न्यायबिन्दु	= (न्याबि०)
प्रमाणवार्तिक	= (प्रवा०)
प्रमाणवार्तिकवृत्ति	= (प्रवावृ०)
वाक्यपदीय	= (वा०)
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	= (विसि०)

बौद्ध-तर्कभाषा

बौद्ध तर्कभाषा

मङ्गलाचरणम्

गुरुं प्रणम्य लोकेशं शिशूनामल्पमेधसाम् ।
धर्मकीर्तिमतश्रुत्यै तर्कभाषा प्रकाश्यते ।।

प्रमाणसामान्यलक्षणम्

इह खलु प्रेक्षापूर्वकारिणोऽर्थिजनास्सर्वपुरुषार्थसिद्धिनिमित्तं प्रमाणमनुसरन्तीति प्रमाणमादौ व्युत्पाद्यते ।

प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम् । प्रमीयतेऽर्थोऽनेनेति प्रमाणम् ।

मंगलाचरण

गुरु और लोकेश (बुद्ध) को प्रणाम कर अल्पबुद्धि वाले बालकों को धर्मकीर्ति का मत बतलाने के लिये तर्कभाषा प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रमाण सामान्य लक्षण

निश्चय ही, विचारपूर्वक कार्य करनेवाले तथा किसी लक्ष्य को चाहने वाले लोग सभी पुरुपार्थों की सिद्धि के निमित्त प्रमाण का अनुसरण करते हैं इसलिये सर्वप्रथम प्रमाण का प्रतिपादन किया जाता है।

अपूर्व विषयक सम्यक् ज्ञान अर्थात् वह यथार्थ ज्ञान जिसका विषयपूर्व में ज्ञान न हो, प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा किसी विषय को भली भाँति

तदेव सम्यग्ज्ञानम्, सन्देहविपर्यासदोषरहितत्वात् । अविसंवादकं ज्ञानं लोके सम्यग्ज्ञानमभिधीयते । न च संशयविपर्यासज्ञानयोरविसंवादकत्वमस्ति । यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिज्ञानस्य, मरीचिकासु वा जलज्ञानस्य । अपूर्वो गोचरो अस्येत्यपूर्वगोचरम् । गोचरो विषयो घटादिः । तस्मादुत्पन्नं तदर्थप्रापणयोग्यं ज्ञानं प्रमाणम् ॥

ननु ज्ञानं कर्तृ पुरुषं प्रयोज्यमर्थं कर्मभूतं यदि कदाचिन्न प्रापयति तत्कथमप्रापकत्वात् प्रमाणं स्यात् ? उच्यते । न हि ज्ञानेन पुरुषो

जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं । संदेह और विपर्यास दोष से रहित होने के कारण उसे ही यथार्थ ज्ञान कहा जाता है । जो ज्ञान अविसंवादक (विषय-संगत) होता है उसे व्यवहार में यथार्थ ज्ञान कहा जाता है । संशय और विपर्यास ज्ञान विषय संगत नहीं होते है । जैसे यह स्थाणु है या पुरुष (इस सन्देहात्मक ज्ञान में एक ही विषय के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध दो धारणायें रहती हैं अतः इस ज्ञान को विषय संगत नहीं कहा जा सकता) और मरीचिका में जल का ज्ञान (विपर्यय या विपर्यास ज्ञान है इसमें विषय मरीचिका अर्थात् सूर्य की किरणें है और ज्ञान जल का होता है, अतः यह भी विषय संगत नहीं है) । जिसका गोचर (विषय) अपूर्व (पूर्व मे अज्ञात) हो उसे अपूर्व-गोचर कहा जाता है । गोचर का तात्पर्य है घट इत्यादि विषय (जिन का ज्ञान होता है) । उस घटादि विषय से उत्पन्न एवम् उस अर्थ को प्राप्त कराने योग्य ज्ञान प्रमाण है ।

ज्ञान रूप कर्त्ता प्रयोज्य रूप पुरुष को कर्मभूत विषय को यदि कदाचित् प्राप्त न कराये तो अप्रापक (प्राप्त न करने वाला) होने के कारण ज्ञान प्रमाण कैसे हो सकेगा ? (इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में) कहा जाता है । ज्ञान

गले पादुकान्यायेन बलादर्थे प्रवर्तयितव्यः । अपि त्वेवंभूतमिदं वस्तुस्वरूपं नान्यथेत्यनेनाकारेण निश्चयो जनयितव्यः । स चेत्तेन कृतः, एतावतैवास्य प्रामाण्यमविरुद्धम् । पुरुषस्तु तत्र प्रयोजनवशात् प्रवर्तताम्ऋते प्रयोजनं न प्रवर्तताम्, अर्थो वा योगिपिशाचादिभिरपह्रियताम् । ज्ञानस्य किमायातम् ? ॥

नन्वविसंवादकत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यम् । अविसंवादकत्वं च दृष्टार्थप्रापणात् । न च यद्दृष्टं तत्प्राप्यते, क्षणिकत्वात् । किंच रूपं दृष्टं, प्राप्यते च स्प्रष्टव्यम् । ततोऽन्यद्दृष्टमन्यत् प्राप्यत इत्यप्रतीतप्रापणात् कथं प्रामाण्यमस्य संगच्छताम् । न । यदि नाम वस्तुतोऽन्यदेव प्राप्यते तथापि दृष्टमेव मया प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसा-

---

मनुष्य को गले में बधी पादुका के समान हठात् किसी विषय की ओर प्रवृत्त नहीं कराता है । किन्तु इस वस्तु का स्वरूप इस प्रकार का है किसी अन्य प्रकार का नहीं, ऐसा निश्चय उत्पन्न करता है । यदि वह इतना कर देता है तो यहीं उसकी प्रामाणिकता है । इसमें कोई विरोध नहीं है । मनुष्य वहाँ अपने प्रयोजनवश प्रवृत्त हो सकता है और प्रयोजन के न रहने पर प्रवृत्त नहीं भी हो सकता । यदि योगी या पिशाच के द्वारा अर्थं का अपहरण कर लिया जाय तो भी ज्ञान का इससे क्या बनता बिगड़ता है ।

यदि यह कहा जाय कि विषय संगत होने के कारण ही ज्ञान की प्रमाणिकता है । और विषय संगत होने का अर्थ दृष्ट वस्तु को प्राप्त करना है (तो यह कथन उचित नहीं होगा) क्योंकि विषय के क्षणिक होने के कारण यह कथन कि 'जो दीख पड़ता है वही प्राप्त होता है', संगत नहीं है । इसके अतिरिक्त रूप दीख पड़ता, स्पर्श करने योग्य प्राप्त होता है । इससे तो यही प्रतीत होता है कि दूसरा दीख पड़ता है और दूसरा ही प्राप्त होता है । इस प्रकार अज्ञात को प्राप्त कराने के कारण ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्वाह कैसे किया जा सकता है ? यह कथन भी उचित नहीं है । क्योंकि यद्यपि वास्तव में अन्य वस्तु की ही प्राप्ति होती है फिर भी

यात् प्रतीतप्रापणमभिधीयते। यत्तु मरीचिकादिजलज्ञानं तदप्रापणयोग्यत्वादप्रमाणमेव ॥

नन्विदं प्रापणयोग्यमिदं नेत्यर्थक्रियाप्राप्तिमन्तरेण निश्चेतुमशक्यम्। ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण तु न भ्रान्ताभ्रान्तयोर्भेदोऽवधार्यते। ततश्च कथं तत्सम्यग्ज्ञानमिति चेत्। नैष दोषः। यद्यपि ज्ञानमात्रोदयाद्वैशिष्टचमनयोरवधारयितुं न शक्यते। तथापि ज्ञानविशेषोदयाद्यथैकस्य वैशिष्टचं तथोच्यते। तथा हि-यदि नाम मन्दबुद्धिरुत्पत्तिवशादविसंवादकत्वं ज्ञानस्य नावधारयितुं समर्थः, तथापि दाहपाकावगाहनस्नानपानोन्मज्जनाद्यर्थक्रियां दूरतोऽनुभवतो नरस्य दर्शनेनोच्चलद्धूमादिदर्शनेन चावधारयति। अमन्दबुद्धिस्तु पटुतरप्रत्य-

---

निश्चय यही होता है कि मैंने दृष्ट वस्तु को ही प्राप्त किया है इसीलिए ज्ञान को ज्ञात को प्राप्त कराने वाला कहा जाता है। जहाँ तक मरु-मरीचिका मे जल-ज्ञान का प्रश्न है वहाँ वह ज्ञान विषय को प्राप्त कराने में अयोग्य है अतः वह अप्रामाणिक ही है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या प्राप्त करने योग्य नहीं है? क्रिया द्वारा अर्थ की प्राप्ति किये बिना यह निश्चय करना संभव नहीं। ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से भ्रान्त और अभ्रान्त के भेद का निश्चय नहीं हो जाता। तब कोई ज्ञान सम्यक् ज्ञान कैसे है? यह प्रश्न बना ही रह जाता है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। यद्यपि ज्ञान मात्र के उदय होने से उक्त दोनो प्रकार के ज्ञान की विशेषताओं का निश्चय करना संभव नहीं है फिर भी ज्ञान विशेष के उत्पन्न होने से एक की विशेषता का निश्चय जिस प्रकार होता है उसे बतलाया जा रहा है :—जैसे कि कोई एक मन्दबुद्धि का व्यक्ति है; वह ज्ञान में उत्पत्ति वशात् असंगति का निर्णय करने में असमर्थ है फिर भी वह जलना, पकाना, जल में प्रवेश करना, स्नान करना, पीना, पानी में डुबकी लगाकर निकलना आदि क्रियाओं के अनुभव करनेवाले व्यक्ति को दूर से देख कर तथा उड़ते हुए धूम आदि को देखकर उक्त संगति का निश्चय कर लेता है।

क्षणैवावधारयति, न त्वर्थक्रियाप्राप्तया। यद्यविसंवादलक्षणं प्रामाण्यं तदा श्रोत्रज्ञानस्याधिगतार्थाप्रापकत्वात् कथं प्रामाण्यमिति चेन्न। अर्थस्वरूपप्रतीतिर्हि प्रामाण्यम्। तच्च बाह्यार्थक्रियाप्राप्तिमन्तेरणापि सम्भवति। यदुक्तम्। 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः॥ अविसंवादनम्' इति। शब्दस्य श्रुतिमात्रेणैव चरितार्थत्वात् श्रुतिरेव तत्रार्थक्रियास्थितिः। यथा रविचन्द्राम्बुदचित्रादीनां दर्शनमेवार्थक्रियास्थितिः। तदुक्तम्—'ज्ञेयस्वरूसंवित्तिरिष्टा तत्र क्रियास्थितिः' इति। प्रथमं तु प्रेक्षावानर्थक्रियार्थितया जलानलादावर्थक्रियासन्देहादेव प्रवर्तते। यदि नाम तस्यैव नास्ति सन्देहो मे वर्तत इति तथापि साधकबाधकप्रमाणाभावाद्युक्तः सन्देहो भवन् केन वार्यते इति। तस्मात् स्थितमेतत्—आसादितनिरन्तरार्थक्रिया-

---

बुद्धिमान् व्यक्ति चातुरी से प्रत्यक्ष मात्र से ही उक्त संगति का निश्चय कर लेता है, इसके लिए उसे अर्थक्रिया की प्राप्ति तक जाने की आवश्यकता नहीं होती। यदि संगति या अविसमवादिता को प्रामाणिकता का स्वरूप माना जाय तो श्रोत्र ज्ञान की प्रामाणिकता नहीं हो सकेगी क्योंकि वह ज्ञात अर्थ को प्राप्त नहीं कराता है। यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि प्रामाणिकता का अर्थ है विषय के स्वरूप की जानकारी। वह क्रिया द्वारा वाह्य विषय के प्राप्त न होने पर भी संभव हो सकता है। इसलिए कहा भी है कि अविसमवादी या विषयसंगत ज्ञान जिसमें विषय और क्रिया की स्थिति हो प्रमाण होता है। अविसमवादिता अर्थक्रिया की संगति या स्थिति मात्र है। यह संगति शब्द के श्रवण मात्र से ही चरितार्थ हो जाती है अतः वह श्रवण मात्र ही अर्थक्रिया की स्थिति या संगति है। जैसे सूर्य, चन्द्र, मेघ चित्र आदि का दर्शन मात्र ही अर्थक्रियास्थिति या विषयसंगति है। पहले पहल विचारक व्यक्ति वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से वस्तु प्राप्ति के संदेह से जल, अग्नि आदि के लिये प्रवृत्त होता है। यदि उसे संदेह न हो और मुझे हो तो भी साधक एवं बाधक प्रमाण के अभाव होने के कारण जो उचित संदेह है उसका निवारण कौन कर सकता है। इससे यह निश्चित हुआ कि व्यवहार

व्यवहारात्पटुतरप्रत्यक्षोदयादेवार्थे प्रवर्तते मन्दबुद्धिस्तु ताद्रूप्यानुमानादिति। अत एव तु प्रत्यक्षस्य स्वतः प्रामाण्यम्। कस्यचित्तु परतः। योगिज्ञानस्य स्वसंवेदनस्य च स्वत एव प्रामाण्यम्। अनुमानस्य तु निश्चयात्मकत्वात् स्वत एव प्रामाण्यम्। तेनायमर्थः—प्रथमत एव यद्विज्ञानं विषये प्रवृत्तं तदेव प्रमाणम्। न तु तत्रैव पश्चाद्भावि ज्ञानान्तरमपि। गृहीतग्राहित्वेन तस्याप्रामाण्यात्। यथा घटं निर्विकल्पकेन ज्ञानेन दृष्ट्वा पश्चात्तस्मिन्नेव विषये घटोऽयमिति सविकल्पकं ज्ञानं स्मरणरूपम्। यथा वा पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा वह्निरत्रेत्यनुमानज्ञानानन्तरं पुनरपि तत्रैव वह्निरत्रेत्यनुमानज्ञानम्। सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमित्युक्ते सामर्थ्याज्जडस्वभावस्येन्द्रियादेः परिच्छेदकत्वाभावात् प्रामाण्यं निरस्तम्। परिच्छेदकत्वं हि

से सदा अर्थक्रिया को प्राप्त करने के कारण, चातुर्यपूर्ण प्रत्यक्ष के उदय होने के कारण (बुद्धिमान् व्यक्ति) किसी अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है और मन्दबुद्धि वाला व्यक्ति उस प्रकार के अनुमान से ही अर्थक्रिया की ओर अग्रसर होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष को स्वतः प्रमाण माना जाता है। किन्तु किसी-किसी को यही परतः प्रमाण ही है। योगी का ज्ञान तथा स्वसंवेदन भी स्वयं ही प्रमाण होता है। अनुमान की भी निश्चयात्मक होने के कारण स्वतः ही प्रामाणिकता है। इससे यह अर्थ निकला कि जो विज्ञान पहले से ही विषय में प्रवृत्त है वही प्रमाण है। यह आवश्यक नहीं कि बाद में होने वाला दूसरा ज्ञान भी वहीं प्रवृत्त हो। ज्ञात या ग्रहीत का ग्रहण या ज्ञान कराने के कारण यह दूसरा ज्ञान अप्रामाणिक ही होता है। जैसे पहले घट को निर्विकल्पक ज्ञान से जान लेने के बाद उसी घट के विषय में 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान होता है जो स्मरण रूप है। अथवा जैसे पर्वत में धूम देखकर यहाँ अग्नि है इस अनुमान ज्ञान के बाद फिर वहीं 'यहाँ अग्नि है' इस प्रकार दूसरा अनुमान ज्ञान है। सम्यक ज्ञान को प्रमाण कहने के कारण इसके सामार्थ्य से जड़ स्वभाव वाली इन्द्रियों की प्रामाणिकता का निरास हो जाता है क्योंकि इन्द्रियाँ विषय की परिच्छेदक नहीं हो सकतीं। क्यों-

बोद्धृत्वम् । तच्च ज्ञानस्यैव निजरूपम् । तत्कथमज्ञानात्मन इन्द्रियादेः स्वरूपं भवितुमर्हतीति ॥

प्रमाणस्य द्वैविध्यम्; प्रत्यक्षशब्दनिर्वचनम्

तद्द्विविधं प्रत्यक्षमनुमानं चेति । प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम् । अक्षमिन्द्रियं चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायाख्यम् । तस्मादुत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षमभिधीयते । ननु यद्यक्षाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षं तदा मानसादि वक्ष्यमाणं ज्ञानत्रयमिन्द्रियादनुत्पत्तेः प्रत्यक्षं न स्यात् । अत्रोच्यते—प्रतिगतमक्षमिति यदुक्तं तत्प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तं प्रतिपादितम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु प्रत्यक्षशब्दस्यार्थसाक्षात्कारित्वमेव रूढिवशाद-

---

कि परिच्छेदक होने का तात्पर्य ज्ञाता होना है । यह ज्ञातृत्व (ज्ञाता-होना) ज्ञान का ही अपना स्वरूप है । यह अज्ञानात्मक इन्द्रियों का स्वरूप कैसे हो सकता है ?

प्रमाण के दो प्रकार : प्रयक्ष शब्द निर्वचन :

वह (प्रमाण) दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और अनुमान । अक्ष से सम्बद्ध ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है और अक्ष का तात्पर्य इन्द्रिय है जिसके चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय आदि नाम हैं । इस से (इन्द्रिय से) उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । अब यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि यदि इन्द्रियों पर आधारित ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तो आगे कहे जाने वाले तीन प्रकार के मानसिक ज्ञान, इन्द्रिय से उत्पन्न न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते । इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'इन्द्रिय सम्बद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परिभाषा प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर की गई है । प्रत्यक्ष शब्द के प्रयोग के लिए प्रवृत्तिनिमित्त या आवश्यविशेषता विषय की साक्षात्कारिता ही है जिस अर्थ में वह रूढ हो गया है जैसे पंकज शब्द का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ है पंक से पैदा होने वाला किन्तु यह शब्द कमल के अर्थ में रूढ हो जाने के कारण थल कमल के लिए भी प्रयुक्त हो जाता है । इस प्रकार स्वसंवेदन आदि ज्ञान भी

वगन्तव्यं पङ्कजवत् । ततः स्वसंवेदनादिकमपि ज्ञानं स्वसंवेदन-रूपमर्थं साक्षात्करोतीति प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सिद्धयतीति ॥

अनुमानशब्दनिर्वचनम्

मीयतेऽर्थोऽनेनेति मानम् । अनुः पश्चादर्थे । पश्चान्मानमनुमानम् । लिङ्गग्रहणलिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् यद्विज्ञानं पर्वतादौ धर्मिणि परोक्षवस्त्वालम्बकं तदेवानुमानशब्देनाभिधीयते । एतच्च रूढिवशादवगन्तव्यम् ।

प्रमाणसंख्याविप्रतिपत्तिः

द्विविधवचनेन एकं त्रीणि चत्वारि पञ्च षडिति विप्रतिपत्तयो निरस्यन्ते । तथा हि-प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकः । प्रत्यक्ष-मनुमानं शब्दं चेति सांख्यः । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शाब्दं चेति

स्वसंवेदन रूप अर्थ का साक्षात्कार करता है इसलिए वह प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य सिद्ध हो जाता है ।

अनुमान शब्द निर्वचन :

जिसके द्वारा अर्थ को पाया जाता है उसे मान कहते हैं । अनु शब्द का अर्थ है पश्चात् । इस तरह पश्चात् (बाद में) होने वाले मान (प्रमाण) को अनुमान कहा जाता है । हेतु के ज्ञान तथा हेतु और साध्य के सम्बन्ध के स्मरण के पश्चात् पर्वत आदि पक्ष मे जो परोक्ष वस्तु (अग्नि आदि) के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाला ज्ञान है वही अनुमान शब्द से कहा जाता है । यह रूढ़ि के कारण ही माना जाता है ।

प्रमाण संख्या विप्रतिपत्ति

प्रमाण को दो प्रकार का कहने से उसे एक, तीन, चार, पाँच, छः मानने वाले समस्त मतों का खण्डन हो जाता है । जैसे चार्वाक के मत में केवल प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है; सांख्य मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं । नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द

नैयायिकः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानमर्थापत्तिरिति प्राभाकरः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानमर्थापत्तिरभावश्चेति मीमांसकः।

द्विविधवचनेन द्वित्वे प्राप्ते प्रत्यक्षमनुमानं चेति पुनर्यदुक्तं तदन्यथाद्वित्वनिरासार्थम्। तथा हि वैयाकरणो ब्रूते प्रत्यक्षं शाब्दं चेति प्रमाणद्वयम्।

चार्वाकाभिमतानुमानाप्रामाण्यनिरसनम्

तत्र अनुमानस्य प्रामाण्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यं चार्वाकेणेति प्रतिपाद्यते। तथाहि—स खलु प्रत्यक्षलक्षणं परप्रतिपादनाय प्रणयति। परस्य च बुद्धिर्न प्रत्यक्षा। किं तर्हि कायवाग्व्यापारादिकार्यादनुमेया। ततोऽनेन कार्यलिङ्गजमनुमानं बलाद भ्युपगतं स्यात्। परलोकनिषेधाय चानुपलम्भाख्यं साधनमाचष्टे। अतोऽसौ स्वयमेवानुमानेन

चार प्रमाण हैं। प्रभाकर के मत से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति पाँच प्रमाण हैं। मीमांसक (कुमारिल भट्ट आदि) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव (अनुपलब्धि) छः प्रमाण मानते हैं।

प्रमाण दो प्रकार का होता है इतना कहने से ही वह दो प्रकार का सिद्ध हो जाता; फिर भी, प्रत्यक्ष और अनुमान का नाम स्पष्ट रूप से इसलिए लिया गया है कि अन्य प्रकार के दो प्रमाण मानने वाले मतों का खण्डन हो जाय। जैसे व्याकरण शास्त्र वाले कहते हैं कि प्रत्यक्ष और शब्द दो प्रमाण हैं।

चार्वाक के मतानुसार अनुमान के अप्रामाण्य का खण्डन

अब यहाँ यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि चार्वाक को भी अनुमान को अवश्य ही प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह दूसरों को समझाने के लिए प्रत्यक्ष के लक्षण का निरूपण करता है। दूसरे की बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं होता। तब शरीर, वाणी आदि क्रियाओं को कार्य मानकर कारण रूप से उसका (बुद्धि का) अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य रूप हेतु से कारण रूप साध्य का अनुमान बाध्य होकर चार्वाक को स्वीकार करना पड़ेगा। परलोक के निषेध के लिए चार्वाक अनुपलब्धि का हेतु के रूप में प्रयोग करता है

प्रमाणेन व्यवहरति, नानुमानं प्रमाणमिति च ब्रुवन् कथं नाम नोन्मत्तश्चार्वाकः स्यात् ?

शब्दोपमानार्थापत्त्यभावानां प्रमाणान्तरत्वनिरसनम्

शाब्दं च ज्ञानं बाह्यार्थाविसंवादकत्वेन प्रमाणमेष्टव्यम्। अविसंवादकत्वं च सम्बन्धमन्तरेण न संगच्छते। न च शब्दानां बाह्यार्थेन सह कश्चित्सम्बन्धोऽस्ति। तथा हि—शब्दार्थयोः सम्बन्धो भवन् तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा भवेत्। तत्र न तावत्तादात्म्यं शब्दार्थयोः, अत्यन्तभेदेन प्रतिभासनात्। तादात्म्यं ह्येकत्वमभिधीयते। भिन्नप्रतिभासयोरप्येकत्वे स्वीक्रियमाणे गवाश्वादीनामप्येकत्व-प्रसङ्गः। नापि तदुत्पत्तिः। अन्वयव्यतिरेकाभावात्। तस्मात्

(अर्थात् परलोक नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं होता), इस तरह वह स्वयं भी अनुमान को प्रमाण मानकर व्यवहार करता है और यह भी कहता है कि अनुमान प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या चार्वाक का यह कथन उन्मत्त का प्रलाप नहीं हो जाता ?

शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, और अभाव के अतिरिक्त प्रमाण का खण्डन

शब्द :

शाब्दज्ञान बाह्य विषय के साथ संगत (अविसमवादक) होने के कारण प्रमाण माना जाय यह एक विचारणीय विषय है। बिना किसी सम्बन्ध को माने संगति मानना संभव नहीं है और शब्द का बाह्य विषय के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द और बाह्य विषय (शब्द के अर्थ) में कोई सम्बन्ध माना गया तो या तो वह तादात्म्य सम्बन्ध होगा, या उत्पत्ति सम्बन्ध। शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं। तादात्म्य सम्बन्ध को एकत्व सम्बन्ध कहा जाता है। भिन्न रूप से प्रतिभासित होने वाले पदार्थों को भी यदि एकत्व माना गया तो गाय और घोड़े में भी एकत्व

तदुत्पत्तिरित्येवं वक्तुं न शक्यते। तथा हि—शब्दव्यापारमन्तरेण स्वहेतोरेव मृत्पिण्डदण्डसलिलकुलालचक्रादेः सकाशादुत्पद्यमानो घटादिरर्थो दृश्यते। शब्दोऽपि बाह्यार्थं विनैव पुरुषेच्छामात्रेण ताल्वादिव्यापारादेवोत्पद्यते। अथ तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्य एव वाच्यवाचकत्वलक्षणः शब्दार्थयोः वास्तवः सम्बन्धोऽस्ति। एवं तर्ह्य संकेतविदोऽपि पुरुषस्य शब्दादुच्चरितान्नियतार्थप्रतीतिः प्राप्ता, योग्यतामात्रेणैव प्रदीपात् घटादिप्रतीतिवत्। न चैतदस्ति। तथा हि—अभिनवो नालिकेरद्वीपादायातः पुमानग्निशब्दं श्रुत्वाऽप्यग्निशब्दान्न किञ्चिदर्थं प्रत्येतीति। अथ तांस्तान्संकेतानपेक्ष्य तत्तदर्थप्रत्यायनयोग्य एवायं शब्दो जायत इत्युच्यते। तन्न। न

मानना पड़ेगा (जो किसी को स्वीकार्य नहीं है)। शब्द और अर्थ में उत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि इन दोनों में अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव है। एक से दूसरे की उत्पत्ति होती है यह कहा भी नहीं जा सकता; क्योंकि शब्द के व्यापार के न रहने पर भी मृत्तिका, दण्ड, जल, कुम्भकार, चक्र आदि सम्बन्ध से उत्पन्न होता हुआ घट आदि अर्थ दीख पड़ता है। शब्द भी वाह्य अर्थ के न रहने पर भी पुरुष की इच्छा मात्र से तालु, कण्ठ आदि के व्यपार से ही उत्पन्न होता है। यदि कहा जाय कि तादात्म्य और उत्पत्ति से भिन्न वाच्यवाचक रूप शब्द और अर्थ का वास्तविक सम्बन्ध है तब तो शब्द के संकेत को न जानने वाले व्यक्ति को भी शब्द के उच्चारण मात्र से निश्चित अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए जैसे योग्यता होने मात्र से दीपक से घट आदि विषयों की प्रतीति हो जाती है। किन्तु इस प्रकार की बात है नहीं। जैसे कि कोई नया व्यक्ति जो अभी अभी नालिकेर द्वीप से आया है वह अग्नि शब्द से कुछ भी अर्थ नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि उन उन संकेतों को प्राप्त हो जाने पर ही यह शब्द अपने अर्थों को बोध कराने योग्य हो पाता है, तो यह कहना उचित नहीं है। इस प्रकार इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि सभी जगह संकेत की ही योग्यता माननी होगी, और यह नहीं ज्ञात हो सकेगा कि वक्ता ने किस अर्थ को बतलाने की इच्छा से शब्द

ह्येवमस्य प्रामाण्यमवतिष्ठते। सर्वत्र संकेतस्य योग्यत्वात्। ततो न ज्ञायते किं विवक्षितार्थमाह, आहो स्विदन्यं वेति। अस्तु वा अन्य एव कश्चित्सम्बन्धः। तथा च सोऽपि के सम्बन्धेन तयोः सम्बद्ध इति प्रष्टव्यः। अन्येन चतुर्थेन सम्बधेनेति चेत्, चतुर्थोऽपि तेषु केन सम्बन्धेन सम्बद्धः? पञ्चमेन केनचिच्चेत्, सोऽपि केनेत्यनवस्थायां अन्त्यासिद्धौ पूर्वेषामप्यसिद्धिः। अथासम्बद्ध एव शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति चेत्। तन्न। यो न सम्बद्धः स कथं सम्बन्धो भवति घटस्येव पटः। अथ वक्तव्यं सम्बन्धस्य तादृश एव स्वभावः, येन सम्बन्धान्तरनिरपेक्ष एवं परं सम्बध्नाति। तदयुक्तम्। प्रमाण सिद्धे हि स्वभावे नोत्तारमभिधीयते। यथाऽग्नेरेवायमीदृशः स्वभावो

का उच्चारण किया है : वह अपना विवक्षित अर्थ बतलाना चाहता है या दूसरा कुछ।

तब इन सम्बन्धों से अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध ही माना जाय। ऐसी स्थिति में भी यह प्रश्न पूछा जायगा कि वह सम्बन्ध इन दोनों (शब्द और अर्थ) के साथ किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि यह तीसरा सम्बन्ध किसी चतुर्थ सम्बन्ध से सम्बन्धित है तो उस चतुर्थ सम्बन्ध के विषय में भी वही प्रश्न उठेगा कि वह इन दोनों से किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है। यदि उसको किसी पाँचवे सम्बन्ध से सम्बन्धित मान लिया जाय तो पाँचवें के बारे में भी वही प्रश्न उठेगा और इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी और अनवस्था दोष हो जाने के कारण अन्तिम सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा और अन्तिम सम्बन्ध के सिद्ध न होने के कारण पहले के सम्बन्ध भी असिद्ध हो जायगें। यदि यह कहा जाय कि असम्बद्ध होना ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो सम्बद्ध ही नहीं है वह सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जैसे घट और पट। इसलिए यह कहना होगा कि सम्बन्ध का कुछ ऐसा स्वभाव ही है कि बिना किसी दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा किये ही वह दूसरे को सम्बद्ध कर देता है। किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रमाण से सिद्ध स्वभाव के विषय में ही बाद में कुछ कहा

यदुत दाहकत्वं नाम नान्यस्याकाशादेः। सम्बन्धसिद्धौ तु प्रमाणं किञ्चिन्निरूपयन्तो न पश्यामः। न चैवं वक्तव्यं शब्दशक्तिस्वभावादेव शब्दानां नियतार्थाव्यभिचारित्वमिति। तथा हि—यदि घट इत्ययं शब्दः स्वभावादेव कम्बुग्रीवाकारं वारिसंधारणसमर्थं पदार्थमभिदधाति, तत्कथं संकेतान्तरमपेक्ष्य पुरुषेच्छया तुरगादिकमभिदध्यात्। न हि शालिबीजं स्वहेतोरंकुरजननस्वभावमुत्पन्नं संकेतान्तरमपेक्ष्य गर्दभं जनयितुं समर्थं स्यात्। नाप्याप्तप्रणीतशब्दानां प्रामाण्यमभिधातुमुचितम्। आप्तत्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्। तथा हि—आप्तत्वं क्षीणदोषत्वमुच्यते। क्षीणदोषता च परचित्तवृत्तिः काचिदभिधीयते। परचित्तवृत्तीनां दुर्लक्ष्यत्वात्, कायवाग्व्या-

---

नहीं जाता जैसे अग्नि का ही ऐसा स्वभाव है जिसे दाहकता कहा जाता है अन्य किसी आकाश आदि का नहीं। सम्बन्ध की सिद्धि में कोई इस प्रकार की प्रामाणिकता विचार करने पर भी हमें नहीं दीखती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्द-शक्ति के स्वभाव से ही शब्द निश्चित् अर्थ का अव्यभिचारी होता है। क्योंकि यदि 'घट' यह शब्द स्वभाव से ही शंख सदृश गर्दन के आकारवाले तथा जल-धारण-समर्थ पदार्थ का निर्देश करता है तब कैसे अन्य प्रकार के संकेत की अपेक्षा में प्रयोगकर्त्ता पुरुष की इच्छा से अश्व आदि का निर्देश कर सकता है? इसी तरह शालिबीज अपने कारण से अंकुर उत्पन्न करने वाले स्वभावरूप से उत्पन्न हुआ है वह अन्य संकेत को पाकर गर्दभ को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। आप्त व्यक्तियों द्वारा निर्मित शब्दों को भी प्रामाणिक मानना उचित न होगा। क्योंकि आप्त कौन है यह निश्चित् करना ही संभव नहीं है।

यदि दोष-राहित्य को आप्तत्व माना जाय तो क्षीण-दोषता (दोष राहित्य) दूसरे की किसी चित्तवृत्ति को ही कहा जाता है। एक ओर तो दूसरे की चित्तवृत्तियों का सही ज्ञान प्रत्यक्षतः नहीं हो सकता और दूसरी ओर शरीर, वाणी आदि के व्यापार रूप कार्य से कारण रूप में वृत्ति का अनुमान

पारादिकार्यलिंगस्यान्यथाऽपि वृत्तिदर्शनात् । सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्त इति न्यायात्कथमाप्तत्वं निश्चीयतामिति । सम्बन्धदूषणेन च वैदिकशब्दानां प्रामाण्यं निरस्तमिति पृथङ्नोक्तम् । कथं तर्हि सर्वोऽयमसन्दिग्धो लौकिको व्यवहार इति चेत् । तथा तथा संकेतेन विवक्षावशादिति न काचित् क्षतिः । यथोक्तम् 'वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दा' इति ॥

उपमान :

नैयायिकस्योपमानप्रपञ्चः । यः प्रतिपत्ता गां जानाति न गवयं, स च अपदिष्टः स्वामिना अरण्यं गत्वा गवयमानयेति । स च गवयशब्दवाच्यमर्थमजानानो वनेचरमन्यं तज्ज्ञं पुरुषं पृष्टवान्, भ्रातः कीदृशो गवय इति । स चाह यादृशी गौस्तादृशो गवय इति ।

भी नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यापार के विपरीत भी वृत्तियाँ देखी जाती हैं । राग वाले व्यक्ति भी ऐसा व्यहार करते हुए देखे जाते हैं जैसे वे वीतराग हों । इस न्याय से तब किस प्रकार आप्तत्व का निश्चय किया जा सकेगा ? सम्बन्ध को दूषित कह देने से वैदिक शब्दों की प्रामाणिकता का भी खण्डन हो जाता है इसलिए इसे अलग नहीं बतलाया गया है । तब यह सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार असंदिग्ध रूप से कैसे चल रहा है ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर यही है कि उस-उस प्रकार के संकेत से वक्ता के इच्छानुसार शब्द भिन्न प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं । इसीलिए यह कहा जाता है कि शब्द वक्ता के अभिप्राय को सूचित करते हैं ।

उपमान :

नैयायिकों का उपमान सम्बन्धी विचार । कोई जानकार व्यक्ति गाय को जानता हैं किन्तु गवय (नील गाय) को नहीं जानता । उसको अपने स्वामी से आदेश मिलता है कि जंगल में जाकर गवय लाओ । वह गवय शब्द के अर्थ को न जानते हुए किसी अन्य जानकार जंगली आदमी से पूछता है कि भाई गवय कैसा होता है ? वह बतलाता है कि जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है । वह जंगल में जाता है । गाय के समान किसी जानवर को

तस्यारण्यगतस्य प्रेष्यपुरुषस्य अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारि गवयसारूप्यज्ञानं कर्तृ अयमसौ गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति प्रतिपत्ति फलरूपां जनयत्प्रमाणम्। एतच्चायुक्तम्। यत्प्रामाण्यं नाम विषयवत्तया व्याप्तम्। नचास्य निपुणमपि निरूपयन्तो विषयं संपश्यामः। तथा हि--समाख्या नाम सम्बन्धः तस्य विषयो वर्ण्यते। स च परमार्थतो नास्ति। दृश्यत्वे तस्यानुपलम्भेन बाधा। अदृश्यत्वे तस्य सत्तासाधकं प्रमाणं नेक्ष्यते। किं च—स हि सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वा। यदा भिन्नस्तदा तयोः सम्बन्धः केन सम्बन्धेनेति वाच्यम्। सम्बन्धान्तरकल्पनायामनवस्था। अथाभिन्नस्तदा

देखता है और उस जंगली व्यक्ति के वाक्य के अर्थ का स्मरण करता है। इसके बाद यही पशु गवय शब्द का वाच्य है, इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है। यही अनुमान प्रमाण का फल है। इसमें अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण सहकारी कारण है, गवय का सारूप्य ज्ञान कर्त्ता है और यह गवय पद वाच्य है, यह अर्थ का प्रतीति फल है इसी फल को उत्पन्न करने के कारण उपमान प्रमाण है। किन्तु नैयायिकों का यह मत प्रामाणिक नहीं है। जो प्रामाणिक ज्ञान होता है वह सविषयक होता है। अर्थात् उसका कुछ न कुछ विषय अवश्य होता है। सावधानीपूर्वक विचार करने पर भी इस (उपमान) का कोई विषय दीख नहीं पड़ता है। समाख्या नामक सम्बन्ध उसका विषय माना जाता है जो वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है। यदि उस सम्बन्ध को दृश्य सम्बन्ध माना जाय तो अनुपलब्ध होने के कारण इस मान्यता में बाधा आ जाती है। उस सम्बन्ध को अदृश्य मानने पर उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दीख पड़ता है। और यदि यह प्रश्न उठाया जाता है कि वह वाच्य-वाचक सम्बन्ध या समाख्या-सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है या अभिन्न, तब, यदि भिन्न है तो इस सम्बन्ध का सम्बन्धियों के साथ कौन सा सम्बन्ध है? यदि उसको कोई दूसरा सम्बन्ध मान लिया जाय तो अनवस्था दोष हो जाता है और यदि दोनों सम्बन्धियों से सम्बन्ध को अभिन्न मान लिया जाय

सम्बन्धिनावेव केवलौ। न समाख्या नाम सम्बन्धः कश्चित्। अथ सम्बद्धबुद्धिजनकत्वं सम्बन्धः। तन्न युक्तम्। यतः सम्बद्धावेताविति बुद्धिः स्वहेतुबलात् सम्बद्धवस्तुद्वयादपि सम्भाव्यमाना न सम्बन्धान्तरमाक्षिप्तुं प्रभवति ॥

एवं मीमांसकोपवर्णितस्यापि प्रामाण्यं निराकर्तव्यम्। तथा हि, सादृश्यविशिष्टः पिण्डः पिण्डविशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्य विषयस्तेन वर्ण्यते। न च सदृशवस्तुनोऽतिरिक्तं सादृश्यं व्यवस्थापयितुं शक्यते, प्रमाणेनाप्रतीतत्वात्। तथा हि—यदि सदृशादतिरिक्तं सादृश्यं दृश्यं स्यात्, तदा दृश्यानुपलम्भग्रस्तमेतत्। अथादृश्यं तदा तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् अनुमानादपि कथं तत्सिद्धिः। सादृश्यप्रत्ययस्तु स्वहेतोस्तथोत्पन्नेन सदृशवस्तुनाऽपि क्रियमाणो घटत

तो केवल दोनों सम्बन्धी ही रहेंगे उनसे अतिरिक्त समाख्या नामक कोई सम्बन्ध होगा ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि सम्बद्ध-ज्ञान का कारण वह सम्बन्ध है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'ये दोनो सम्बद्ध हैं' इस प्रकार का ज्ञान अपने हेतु वशात् सम्बद्ध दो वस्तुओं से भी संभव हो सकता है इसलिए किसी अन्य सम्बन्ध की अनिवार्य रूप से सिद्धि उससे नहीं हो सकती।

इसी प्रकार मीमांसकों द्वारा निरूपित उपमान की प्रामाणिकता का निराकरण किया जाना चाहिये। सादृश्य से विशिष्ट पिण्ड (वस्तुविशेष) अथवा पिण्ड से विशिष्ट सादृश्य को मीमांसक उपमान का विषय मानते हैं। लेकिन सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य की स्थापना करने में वे समर्थ नहीं हो सकते क्योंकि किसी भी प्रमाण से इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। जैसे कि – यदि सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य को दृश्य माना जाय तो दृश्य की अनुपलब्धि दोष है, वह मान्यता-ग्रस्त हो जाती है। यदि उसको अदृश्य माना जाय तो उससे सम्बद्ध हेतु के अभाव में अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है। सादृश्य ज्ञान तो अपने कारणों से उत्पन्न सदृश वस्तुओं के द्वारा भी संभव है अतः सादृश्य ज्ञान से भी सादृश्य सम्बन्ध की

इति न तत्प्रत्ययादपि तत्सिद्धिर्युक्ता। उपमानादेव सादृश्यसिद्धिरिति चेन्न। यतः प्रमाणान्तरसिद्धयोरेव सादृश्यपिण्डयोर्यो विशेषणविशेष्यभावस्तस्योपमानविषयत्वं तेन वादिना परिकल्प्यते। तत्कथं सादृश्यमात्रस्याप्युपमानात्सिद्धिरिति ॥

अर्थापत्ति

अर्थापत्तेरपि प्रामाण्यं पृथङ् नोपपद्यते। तथा हि प्रत्यक्षादिप्रतीतो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिरित्यर्थापत्तेर्लक्षणम्। अत्रेदं चिन्त्यते—योऽसौ प्रमाणदृष्टोऽर्थः तस्य यदि परिकल्प्यमानेन परोक्षार्थेन सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणः तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबन्धोऽस्ति तदा स्वभावलिङ्गजा कार्यलिङ्गजा वाऽसौ प्रतिपत्तिरित्यर्थापत्तिरनुमानमेव। अथ नास्ति प्रतिबन्धः तदानीमर्थापत्तिः प्रमाणमेव न भवति। असम्बन्धात् घटात्पटप्रतीतिवदिति ॥

सिद्धि मानना युक्तिसंगत नहीं है। यदि यह कहा जाय कि उपमान से ही साहश्य की सिद्धि होती है तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध साहश्य और पिण्ड में विशेषण विशेष्यभाव और उसमें उपमान की विपयता वादी (मीमांसक) द्वारा मान्य है; तव साहश्य की भी सिद्धि उपमान से कैसे माना जा सकती है ?

अर्थापत्ति :

अर्थापत्ति को भी अलग प्रमाण नहीं माना जा सकता। अर्थापत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह जिस अर्थ के बिना उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो पाता है उस अर्थ की भी कल्पना कर ली जाती है। यही अर्थापत्ति का स्वरूप या लक्षण है। यहाँ यह विचारणीय है कि जो अर्थ प्रमाण से ज्ञात है उस अर्थ का कल्पित किये जानेवाले अज्ञात अर्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है : तादात्म्य सम्बन्ध है या उत्पत्ति सम्बन्ध। यदि इन दोनों सम्बन्धों में से कोई सम्बन्ध हुआ तो स्वभाव हेतुजन्य या कार्य हेतुजन्य वह प्रतीति होगी। इस तरह अर्थापत्ति अनुमान ही होगी। यदि ज्ञात और अज्ञात अर्थ में कोई इस प्रकार का प्रतिवन्ध

अभाव (अनुपलब्धि)

अभावस्य स्वरूपमेव तावन्नोपलभामहे, कुत एव तस्य प्रामाण्यं भविष्यति। तथा हि—प्रत्यक्षादिप्रमाणानामनुत्पत्तिरभावाख्यं प्रमाणं मीमांसकैरभिधीयते। तत्र केयमनुत्पत्तिः ? किं प्रसज्यवृत्त्या प्रमाणानुत्पत्तिमात्रं ? अथ पर्युदासवृत्त्या वस्त्वन्तरम् ? वस्त्वन्तरमपि जडरूपं, ज्ञानरूपं वा ? ज्ञानमपि किं ज्ञानमात्रम् एकज्ञानसंसर्गिवस्तुनो ज्ञानं वा ? तत्र न तावत् प्रसज्यरूपोऽभावो युज्यते। तस्य सर्वशक्तिशून्यत्वात् परिच्छेदकत्वं ज्ञानजनकत्वं वा कथं भवेत् ? अत एव केनापि न तत्प्रतिपद्यते। यदाह पण्डितचक्रचूडामणिः—'नाभावः कस्यचित्प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिहेतुर्वा। तस्यापि कथं प्रतिपत्तिः' इति। नापि जडरूपं, जडस्य परिच्छेदकत्वाभावात्। न हि जडरूपं शकटादिकं घटं परिच्छिनत्तीति क्वापि दृष्टं श्रुतं वेति।

नहीं है। तब अर्थापत्ति प्रामाणिक ही नहीं हो सकती क्योंकि सम्बन्ध न होने पर उस प्रकार का ज्ञान संभव नहीं जैसे घट से पट की प्रतीति।

अभाव (अनुपलब्धि) :

अभाव का तो स्वरूप ही नहीं प्राप्त होता तब वह प्रमाण कैसे हो सकेगा ? जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अनुत्पत्ति को मीमांसक अभाव प्रमाण मानते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह अनुपपत्ति क्या है ? क्या यह प्रसज्य वृत्ति से प्रमाण की अनुत्पत्ति मात्र है ? अथवा पर्युदास वृत्ति से कोई अन्य वस्तु ? यदि अन्य वस्तु भी है तो वह जड़ रूप है या ज्ञान रूप ? यदि ज्ञान है तो क्या वह ज्ञान मात्र है ? या किसी ज्ञान विशेष से सम्बन्धित किसी विषय का ज्ञान है ? इन विकल्पों में अभाव को प्रसज्यरूप मानना ठीक नहीं। वह सर्वशक्तिशून्य होने के कारण परिच्छेदक अथवा ज्ञानजनक कैसे हो सकता है। इसलिए कोई भी उसे जान नहीं पाता है। पण्डित चक्र के शिरमौर का कहना है कि अभाव न तो किसी की प्रतिपत्ति (ज्ञान) है और न किसी प्रतिपत्ति का हेतु है तब उसकी भी प्रतिपत्ति (ज्ञान) कैसे हो सकती है ? वह जड़ रूप भी नहीं हो सकता क्योंकि जड़ परिच्छेदक नहीं हो सकता। जड़ रूप गाड़ी

नापि ज्ञानमात्रं, देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्यापि सुमेरुशंखचक्रवर्तिपिशाचादेरपि ज्ञानमात्रादभावप्रमाणादभावप्रसाङ्गत्। अथैकज्ञानसंसर्गिभूतलादि वस्तुज्ञानमभावोऽभिधीयते तदा प्रत्यक्षविशेषस्यैवाभावप्रमाणनामकरणान्नास्माकं काचिद्विप्रतिपत्तिरिति। स्थितमेतत्—प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्विविधमेव प्रमाणमिति ॥

प्रत्यक्षलक्षणम्

तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्। पूर्वापरमनुसन्धाय शब्द सङ्कीर्णाकारा प्रतीतिरन्तर्जल्पाकारा वा कल्पना। यथा विज्ञपुरुषस्य सोऽयं घट इति प्रतीतिः। बाल मूकतिर्यगादीनामन्तर्जल्पाकारा

(शकट) घट को परिच्छिन्न करता है, ऐसी बात कहीं कभी किसी ने न तो देखी है और न सुनी। उसे ज्ञान मात्र भी नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर देश, काल और स्वभाव से दूरस्थ वस्तुओं, जैसे सुमेरु, शंख चक्र में रहने वाले पिशाच आदि का भी ज्ञान मात्र से अभाव प्रमाण द्वारा अभाव मानना पड़ेगा। यदि एक ज्ञान से सम्बन्धित भूतलादि वस्तु का ज्ञान ही अभाव कहा जाता है तब तो प्रत्यक्ष विशेष का ही अभाव नाम रख दिया जाता है इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। इससे यह निश्चित् हो जाता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण लक्षण; कल्पना तथा भ्रम के प्रत्यक्षत्व का खण्डन

इन प्रमाणों में कल्पना से अपोढ (रहित) एवं अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। कल्पना दो प्रकार की होती है : पूर्व और अपर का अनुसंधान करके शब्द संकीर्ण रूप प्रतीति अथवा आन्तरिक जल्पवाली प्रतीति। जैसे विज्ञ पुरुष की यह प्रतीति कि यह वही घट है (पहले प्रकार की कल्पना का उदाहरण है)। बालक, मूक, पशु आदि में आन्तरिक जल्परूप या परामर्श

परामर्शरूपा वा प्रतीतिः। तथा चोक्तम् "अभिलापसंसर्ग योग्य-प्रतिभासप्रतीतिः कल्पना" इति ॥

ननु बालमूकादीनामन्तर्जल्पाकारं कल्पनाज्ञानमस्तीति कुतो निश्चेतव्यमिति चेत्, विकल्प कार्यादिष्टानिष्टोपादानपरिहारात्। दृष्टं चेदं कार्यं बालमूकादौ, ईप्सितार्थस्वीकरणमनीप्सितार्थत्यजनं नाम। बालमूकादिविज्ञानस्य कल्पनात्वसूचनेन भट्टोक्तालोचनाज्ञानं सविकल्पकमिति प्रतिपादितं भवति। किं पुनः कारणं कल्पना-विभ्रमात्मकं च ज्ञानं प्रत्यक्षं न स्यादिति चेन्न। अर्थस्वरूपसाक्षात्कारि हि ज्ञानं प्रत्यक्षमिति सर्वेषां प्रसिद्धम्। न च कल्पनाविभ्रमावर्थरूपं साक्षात्कर्तुं समर्थौ। तथा हि—अर्थग्राहकं ज्ञानमर्थस्य कार्यम्। अर्थो हि ग्राह्यत्वात् ज्ञानस्य कारणम्। यथोक्तम्—

रूप प्रतीति (द्वितीय प्रकार की कल्पना का उदाहरण है)। इसलिए कहा गया है कि अभिलाप संसर्ग (शब्द सम्बन्ध) योग्य प्रतिभास प्रतीति-कल्पना है।

अब यह आशंका की जाती है कि बालक और मूक में अन्तर्जल्प रूप कल्पना ज्ञान है यह कैसे निश्चित् किया जा सकता है ? उत्तर पक्ष से कहा जाता है कि विकल्प कार्य से तथा इष्ट के ग्रहण और अनिष्ट के परिहार से उक्त निश्चय संभव है। बालक और मूक व्यक्ति में भी देखा जाता है कि वे इच्छित अर्थ को स्वीकार करते हैं और अनिच्छित अर्थ का परित्याग। बालक एवं मूक व्यक्तियों के ज्ञान को कल्पना ज्ञान मान लेने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि भाट्ट मीमांसकों का आलोचना ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है। कल्पना और विभ्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जाता इसका क्या कारण है ? यह प्रश्न ही ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ के स्वरूप को साक्षात् कराने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है यह सभी को मान्य है। और कल्पना तथा विभ्रमात्मक ज्ञान अर्थ के स्वरूप को साक्षात् कराने में समर्थ नहीं हैं। अर्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान अर्थ का कार्य है और अर्थ ग्राह्य होने से ज्ञान का कारण है। कहा भी गया है कि :

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥" इति ॥

कल्पनाज्ञानमथर्मन्तरेण वासनामात्रादेवोपजायमानं कथं मर्थस्य कार्यं स्यात् । अर्थेन सह अन्वयव्यतिरेकाभावात् । न हि यदन्तरेणापि यद्भवति तत्तस्य कार्यम्, अतिप्रसङ्गात् । यदि पुनः कल्पनाज्ञानमर्थादुपजायेत, तेनापि तदा घटादिरर्थो दृश्येत । ततश्चान्धस्यापि रूपदर्शनप्रसङ्गः, न चास्ति । अत एवोक्तम् 'शाब्द्यां बुद्धावर्थस्य प्रत्यक्ष इव प्रतिभासाभावात् नास्ति कल्पनायाः अर्थसाक्षात्कारित्वम्' इति एतेन यदुक्तं परेण—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ इति ॥

तन्निरस्तम् । तथाहि—घटे पुरोवर्तिनि उच्चार्यमाणे तत्समीपवर्ति भूतलादिज्ञानमुच्चारणरहितमनुभूयत एव । न च तथा तत्र

'भिन्न समय में ग्राह्य कैसे होगा ? जबकि ज्ञान के स्वरूप देने में समर्थ हेतुता को ही तार्किकों ने ग्राह्यता माना हैं ।'

कल्पना अर्थ के बिना जो केवल वासना मात्र से उत्पन्न हो जाता है वह ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे होगा ? क्योंकि उसका अर्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है । जिसके बिना भी जो उत्पन्न हो जाता है वह उसका कार्य नहीं हो सकता । उसे कार्य मानने में अतिव्याप्ति दोष आता है । और भी, यदि कल्पना ज्ञान को अर्थ से उत्पन्न माना जाय तो उस कल्पना ज्ञान से भी घट आदि अर्थ को दीखाना चाहिए । तब तो अन्धे को भी रूप दिखलाई पड़ेगा किन्तु यह होता नहीं है । इसलिए कहा जाता है कि शाब्द ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान में अर्थ का प्रतिभास प्रत्यक्ष के समान नहीं होता है अतएव कल्पना में अर्थ की साक्षात्कारिता नहीं मानी जाती है । इस कथन से प्रतिपक्षी का निम्नलिखित मत कि :—'कोई भी ऐसा प्रत्यय नहीं है जो शब्द के अनुगम के बिना हो । सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है,'

यह भी खण्डित हो जाता है । जैसे कि सामने विद्यमान घट के उच्चारण करने पर उसके समीपवर्ती पृथिवी आदि का ज्ञान उच्चारण के बिना भी अनुभव

शब्दानुगतोऽस्ति। न च विकल्पद्वयं सकृदिति न्यायात्॥

भ्रान्तमपि ज्ञानं नार्थसाक्षात्कारि। भ्रान्तं ह्यर्थक्रिया समर्थे वस्तुनि विपर्यस्तमुच्यते। अर्थक्रियाक्षमं च वस्तुस्वरूपं देशकालाकारनियतं, तत्कथं विपरीतप्रतिभासिना भ्रान्तेन ज्ञानेन साक्षात्क्रियते। यदाह आचार्यः—"तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" इति॥

एतेन कामलिनः शुक्ले शंखे पीतप्रतिभासि ज्ञानं, भ्रमादलातादौ चक्रादिनिर्भासि ज्ञानं, गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य चलद्वृक्षादिभ्रान्तिज्ञानं, गाढमर्मप्रहारहतस्य ज्वलत्स्तम्भादि प्रतिभासि ज्ञानं च, न प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति। ननु यदि नाम तज्ज्ञानं न प्रत्यक्षं कथं ततो वस्तुप्राप्तिरिति चेत्, न ततो वस्तुप्राप्तिः। किं तर्हि, ज्ञानान्तरादेवेति केचित्॥

में आता है। उस भूतलादि ज्ञान में शब्द का अनुगम उस प्रकार नहीं है। वहाँ पर दो विकल्प भी नहीं माने जा सकते क्योंकि दोनों ज्ञान एक साथ होते हैं।

भ्रान्त ज्ञान भी अर्थ का साक्षात्कार कराने वाला नहीं होता। अर्थ-क्रिया समर्थ वस्तु में विपर्यस्त ज्ञान भ्रान्त ज्ञान कहा जाता है। अर्थ-क्रिया समर्थ वस्तु का स्वरूप देश, काल, आकार से नियत होता है। विपरीत प्रतिभासित होने वाले भ्रान्त ज्ञान से उसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है। इसे आचार्य ने भी कहा है—'अन्धकार का शीघ्र भ्रमण, नौका यान संक्षोभ आदि से अनाहित विभ्रम ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।'

इससे यह भी स्पष्ट किया गया है कि कामला रोग ग्रस्त का शुक्ल शंख में पीत प्रतिभासित होने वाला ज्ञान, भ्रम से अलात में चक्र आदि मालूम पड़ने वाला ज्ञान, चलती हुई नौका में बैठे हुए व्यक्ति को नौका की स्थिरता तथा वृक्ष आदि के चलने का ज्ञान, मर्मस्थल पर अधिक चोट से आहत व्यक्ति को जलता हुआ खम्भा दीखने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। यह आशंका कि यदि भ्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हैं तो उससे वस्तु की प्राप्ति कैसे होती हे ? ठीक नहीं है क्योंकि उससे वस्तु की

प्रत्यक्षस्यचातुर्विध्यम्:

तच्चतुर्विधं, इन्द्रियज्ञानं मानसं स्वसंवेदनं योगिज्ञानं चेति। चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकाश्रयेणोत्पद्यमानं बाह्यरूपादिपञ्चविषयालम्बनमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। तत्र चक्षुर्विज्ञानं रूपविषयम्। श्रोत्रविज्ञानं च शब्दविषयम्। घ्राणविज्ञानं गन्धविषयम्। जिह्वाविज्ञानं रसविषयम्। कायविज्ञानं स्पर्शविषयम्। इन्द्रियप्रत्यक्षमिति व्यपदेशस्यासाधारणकारणत्वं निमित्तम्। यथा भेरीशब्दो यवाङ्कुर इति। इदं च प्रत्यक्षं यत्रैव स्वानुरूपं विकल्पं जनयति तत्रैव प्रमाणम्, सांव्यवहारिकप्रमाणाधिकारादिति ॥

प्राप्ति होती ही नहीं। तब क्या होता है? कुछ लोग अन्य ज्ञान से वस्तु का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं।

प्रत्यक्ष के चार प्रकार :

वह (प्रत्यक्ष) चार प्रकार का होता है। इन्द्रिय ज्ञान, मानस, स्वसंवेदन, तथा योगिज्ञान। चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला बाह्य रूप आदि पाँच विषयों पर आधारित ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इनमें चक्षु विज्ञान रूप विषयक होता है। श्रोत्र विज्ञान का विषय शब्द होता है। घ्राण विज्ञान का विषय गन्ध होता है। जिह्वा विज्ञान का विषय रस होता है। कायविज्ञान का विषय स्पर्श होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष इस नाम का असाधारण कारण निमित्त है जैसे भेरी शब्द और जौ के अंकुर आदि में निमित्त भेरी और जौ हैं। (अर्थात् इन्द्रिय के असाधारण कारण होने से इन सभी ज्ञानों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है, जैसे भेरी से उत्पन्न शब्द को भेरी शब्द और जौ से उत्पन्न अंकुर को जौ का अंकुर कहा जाता है)। यह प्रत्यक्ष जहाँ अपने अनुरूप विकल्प उत्पन्न करता है वहीं प्रमाण होता है। क्योंकि प्रमाण का अधिकार सम्यक् व्यवहार तक ही है।

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनोविज्ञानं मानसम्। स्वशब्देनेन्द्रियज्ञानमभिमतम्, स्वस्य विषयो बाह्यो घटादिः, स्वविषयस्यानन्तरः स्वविषयानन्तरः इन्द्रियज्ञानविषयादन्यो घटादिर्द्वितीयक्षणः। तेन सहकारिणा सह मिलित्वा, इन्द्रियज्ञानेनोपादानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन यज्जनितं तन्मानसं प्रत्यक्षमुच्यते। ततो यदुक्तं परेणात्र 'गृहीतग्राहित्व-मन्धबधिराद्यभावो योगिज्ञानस्यापि मानसत्वप्रसङ्गः अव्यवहारित्वं च इति' तन्निरस्तम्। तथा हि—द्वितीयक्षणग्रहणात् गृहीतग्राहित्वस्य निरासः। इन्द्रियज्ञानजनितं हि मानसम्। अन्धादीनां रूपादि-विषयालम्बनकमिन्द्रियज्ञानमेव नास्ति, कुतस्तज्जनितं मानसं भविष्यति? अतो नास्त्यन्धबधिराद्यभावदोषः। समनन्तरप्रत्यय-

---

(स्व) अपने विषय के अनन्तर विषय के सहकारी इन्द्रिय ज्ञान से समनन्तर प्रत्यय द्वारा उत्पन्न मनोविज्ञान मानस प्रत्यक्ष है। यहाँ स्व (अपने) शब्द से इन्द्रिय ज्ञान अभिमत है। स्वस्य अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान का विषय बाह्य घट आदि, स्व विषय के अनन्तर स्वविषयानन्तर कहा जाता है। अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के विषयभूत घट आदि के अनन्तर द्वितीय क्षण में विद्यमान अन्य घट आदि। उस द्वितीय क्षण के घट रूप सहकारी कारण से मिलकर, इन्द्रिय ज्ञान रूप उपादान, जिसको समनन्तर प्रत्यय भी कहा जाता है, से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त स्पष्टीकरण से प्रतिपक्ष द्वारा कथित गृहीत ग्राहित्व, अन्ध-बधिर आदि का अभाव, योगिज्ञान का मानसत्व आदि दोष एवं अव्यवहारिकता आदि के आक्षेप का खण्डन हो जाता है। जैसे द्वितीय क्षण के ग्रहण करने से गृहीतग्राहित्व दोष का निरास हो जाता है। अन्ध आदि में रूप आदि विषयों पर अवलम्बित इन्द्रिय ज्ञान ही नहीं है तो उससे उत्पन्न मानस ज्ञान कैसे होगा? इसलिए अन्ध बधिर आदि के अभाव का दोष नहीं होगा। समनन्तर प्रत्यय विशेषण दे

विशेषणेन मानसप्रत्यक्षप्रसङ्गो निरस्तः। समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसन्तानवर्तिन्युपादानज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः। ततो भिन्नसन्तानवर्तियोगिज्ञानमपेक्ष्य पृथग्जनचित्तानां समनन्तरप्रत्ययव्यपदेशो नास्तीति। अव्यवहारित्वं पुनरस्य दूषणं नोपपद्यते, सूक्ष्मकालभावित्वेन पृथग्जनैर्दुर्लक्ष्यत्वात्। व्यवहाराङ्गत्वेन चानभ्युपगमात्। आगमप्रसिद्धं हि मानसप्रत्यक्षम्। न त्वस्य निश्चायकं किञ्चिदस्ति। यथोक्तं भगवता—'द्वाभ्यां भिक्षवो रूपं गृह्यते, कदाचित् चक्षुषा तदाकृष्टेन मनसा च' इति। ननु च व्यवहारानुपयुक्तमुपदर्शयितुं किं प्रयोजनम्, ईदृग्लक्षणयुक्तं यदि मानसं प्रत्यक्षं स्यात्, न कश्चिद्दोषः स्यादित्यागमस्यापि विशुद्धिरनेन प्रतिपादितेति प्रयोजनम्॥

देने से योगि ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष के दोष का निरास हो जाता है। समनन्तर प्रत्यय शब्द अपने अपने सन्तान (प्रवाह) में विद्यमान उपादान ज्ञान के लिये रूढि द्वारा प्रसिद्ध हो गया है। ऐसी स्थिति में भिन्न सन्तान (प्रवाह) में विद्यमान योगि के ज्ञान की अपेक्षा से सामान्य मनुष्यों के चित्त को समनन्तर प्रत्यय शब्द से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। अव्यवहारित्व भी इसका दोष नहीं बन पात है क्योंकि सूक्ष्म काल में होने के कारण यह सामान्य मनुष्यों को परिलक्षित नहीं हो पाता। और व्यवहार के अंग रूप से इसे माना भी नहीं जाता। मानस प्रत्यक्ष शास्त्र द्वारा ही प्रसिद्ध है। इस को निश्चय कराने वाला दूसरा कुछ नहीं है। जैसे भगवान् ने कहा है कि भिक्षु लोग दोनों से रूप का ग्रहण करते हैं कभी चक्षु से और कभी उसके द्वारा आकृष्ट मन से। यदि यह आशंका उठायी जाय कि व्यवहार में अनुपयुक्त इस मानस ज्ञान को दिखलाने का क्या प्रयोजन है? तो कहना होगा कि यदि इस प्रकार के लक्षण से युक्त मानस प्रत्यक्ष होगा तो उसमें कोई दोष न होगा, इस प्रकार इससे आगम की विशुद्धि का प्रतिपादन हो जाता है और यही इसका प्रयोजन है।

चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनत्वसमर्थनम्

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम् । चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम् । चित्ते भवाः चैत्ताः, वस्तुनो विशेषरूपग्राहका सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः । तेषां सर्वचित्तचैत्तानामात्मा संवेद्यते येन रूपेण तत्स्वरूपमात्मस्वरूपसाक्षात्कारित्वात् स्वसंवेदनं प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं चोच्यते । अत्र केचिदाहुः—न च चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनं घटते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न च सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमारोढुं शक्नोति । न हि तीक्ष्णाऽप्यसिधारा स्वमात्मानं छिनत्ति । न हि प्रज्ज्वलितोऽपि वह्निस्कन्ध आत्मानं दहति । तथा चित्तचैत्तमपि कथमात्मानं वेदयतु ! वेद्यवेदकभावो हि कर्मकर्तृभावः । कर्मकर्तृत्वं च लोके भेदेनैव प्रसिद्धम्, वृक्षसूत्रधारयोरिव ।

चित्त तौर चैत्त के स्व संवेदनत्व का समर्थथन

समस्त चित्त और चैत्तों का आत्मसंवेदन स्वसंवेदन है । चित्त वस्तु मात्र का ग्रहण करने वाला ज्ञान है । चित्त में उत्पन्न होने वाले चैत्त कहलाते हैं । वे वस्तुतों के विशेष रूप ग्रहण करने वाले सुख, दुखः और अपेक्षा रूप हैं । उन समस्त चित्त और चैत्तों के आत्मा (वास्तविक स्वरूप) का जिस रूप से ज्ञान होता है वह रूप अपने स्वरूप का साक्षात्कराने वाला होने के कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, कल्पना से अपोढ, अभ्रान्त ज्ञान कहलाता है ।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि चित्त और चैत्त को स्वसंवेदन मानना ठीक नहीं लगता क्योंकि अपने में क्रिया मानने में विरोध हैं । सुशिक्षित भी नट का लड़का अपने कंधे पर चढ़ने में समर्थ नहीं हो सकता । तेज से तेज तलवार अपने आप को काट नहीं सकती । प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला अपने को जला नहीं पाती । तव चित्त और चैत अपने आप को कैसे जान सकेगें ? वेद्य वेदक-भाव सम्बन्ध अर्थात् वेद्य और वेदक होना कर्मकर्तृभाव सम्बन्ध है अर्थात् वेद्य कर्म है और वेदक कर्ता है, दोनो में कर्मकर्तृ भाव सम्बन्ध है ।

अत्रोच्यते—न कर्मकर्तृभावेन वेद्यवेदकत्वं ज्ञाने वर्ण्यते। किं तर्हि व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। यथा प्रदीप आत्मानं प्रकाशयति तथा ज्ञानमपि जडपदार्थविलक्षणं स्वहेतोरेव प्रकाशस्वभावमुपजायमानं स्वसंवेदनं व्यवस्थाप्यते ॥ तथा चोक्तम्—

"विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता"। इति ॥

अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

कल्पितः कर्मकर्त्रादिः परमार्थो न विद्यते।
आत्मानमात्मनैवात्मा निहन्तीति निरुच्यते। इति ॥

न च चित्तचैत्तानां ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यत्वं युज्यते। तथा हि-न तावत्समानकालभाविना ज्ञानान्तरेण चित्तचैत्तं प्रकाश्यत इति घटते,

---

लोक में कर्म और कर्त्ता भिन्न रूप से ही माने जाते हैं जैसे वृक्ष और सूत्रधार। यहाँ उत्तर पक्ष की ओर से यह कहा जाता है कि ज्ञान में वेद्य और वेदक का निरूपण कर्म कर्त्ता के रूप में नहीं किया जाता अपितु व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक के रूप में किया जाता है। जैसे प्रदीप अपने को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी जड़ पदार्थों से विलक्षण अपने कारण से ही प्रकाशस्वरूप वाला उत्पन्न होता हुआ स्वसंवेदन की व्यवस्था करता है। कहा भी गया है कि

'विज्ञान जड़रूपों से पृथक होकर ही उत्पन्न होता है। जो उसकी अजड़ रूपता (जड़ से भिन्नता) है वही उसकी आत्म संवेदना है।'

अलंकारकार ने भी कहा है :—

कर्म कर्त्ता आदि कल्पित हैं ये परमार्थ नहीं हैं। क्योंकि यह भी कहा जाता है कि आत्मा अपने को (आत्मानं) अपने से (आत्मना) मारता है।

चित्त और चैत्त को किसी अन्य ज्ञान से प्रकाश्य मानन उचित नहीं है। जैसे कि :—समान काल में उत्पन्न किसी अन्य ज्ञान से चित्त और चैत को

उपकार्योपकारकत्वाभावात्, सव्येतरगोविषाणयोरिव। नापि भिन्न-कालभाविना, क्षणिकत्वात् प्रकाशितव्यस्यैवाभावात्। अपि च यदि ज्ञानं स्वसंवेदनं न स्यात्, तदा ज्ञातोऽर्थ इति दुर्घटः स्यात्, 'नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये वर्त्तते' इति न्यायात्। तथा हि-अर्थो विशेष्यः, ज्ञात इति विशेषणम्, ज्ञातो ज्ञानेन विशेषित इति। ज्ञानं चेत्स्वयं न बोधरूपेण प्रतीतं, तत्कथं ज्ञानेन विशेषितोऽर्थः प्रतीयताम्। न हि दण्डाग्रहणे दण्डिनो ग्रहणं युक्तिसङ्गतम्। यच्चोक्तं त्रिलोचनेन—"चक्षुषोऽग्रहणेऽपि चाक्षुषं रूपं यथा प्रतीयते, तथा ज्ञानानवबोधेऽपि ज्ञातोऽर्थ इति घटिष्यते" इति तदसाधु। प्रस्तुतेऽनुपयोगात्। न हि चक्षू रूपस्य विशेषणम्। किं तर्हि, चक्षुर्विज्ञानम्। ततश्चक्षुर्विज्ञाना-संवेदने कथं रूपं ज्ञायतामिति चोद्यमक्षतमेव॥

प्रकाशित मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में उन दोनों में (चित्तचैत्त और उसी काल में उत्पन्न अन्य ज्ञान) में उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध नहीं बन सकता जैसे एक काल में उत्पन्न गाय के बायें और दहिने सींग में उपकार्य उपकारक सम्बन्ध नहीं होता है। भिन्न काल में उत्पन्न ज्ञान द्वारा भी उसे प्रकाशित नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान के क्षणिक होने के कारण उस समय में प्रकाशित होने वाले चित्त चैत्त का ही अभाव हो जाएगा। और भी, यदि ज्ञान स्वसंवेदन न होगा तो 'ज्ञात अर्थ' कहना भी कठिन हो जाएगा क्योंकि यह नियम है कि विशेषण को ग्रहण किये बिना बुद्धि विशेष्य के ग्रहण में प्रवृत्त नहीं हो सकती। यहाँ अर्थ विशेष्य है और ज्ञात विशेषण है और ज्ञात ज्ञान से विशेषित है। ज्ञान यदि स्वयं बोध रूप से प्रतीत नहीं हुआ तो ज्ञान से विशेषित अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकेगी।

दण्डज्ञान के बिना दण्डधारी का ज्ञान युक्तिसंगत नहीं होता। त्रिलोचन ने जो कहा कि चक्षु से ज्ञात न होने पर भी रूप जैसे चाक्षुष माना जाता है उसी प्रकार ज्ञान के अवबोध न होने पर भी ज्ञात अर्थ कहना संगत हो सकता है। यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में इसका उपयोग नहीं हो सकता। चक्षु रूप का विशेषण नहीं है। तब चक्षुविज्ञान क्या है? (यहाँ

यत्पुनर्ज्ञानस्य परोक्षत्व प्रतिपादनाय भट्टेनोक्तम्—यथा च रूपादि-प्रकाशान्यथानुपपत्या इन्द्रियसिद्धिः, तथा ज्ञानस्यापि सिद्धिरिति। तथा हि तत्र भाष्यम्—'न हि कश्चिदज्ञातेऽर्थे बुद्धिमुपलभते। ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति' इति। वार्त्तिकं च 'तस्य ज्ञानं तु ज्ञाततावशात्' इति। ज्ञातता च विषयप्राकट्यमुच्यते। तदपि चायुक्तम्। प्राकट्यस्यापि ज्ञानात्पृथक्त्वे विषयरूपतायां व्यक्तौ जडरूपता, जडस्य प्रकाशायोगात्। विषयादर्थान्तरत्वे जडतायां तस्यापि स्वतः प्रकाशायोगात्। प्राकटचन्तरेण नु प्रकाशनेऽनवस्था स्यात्। ज्ञान-स्वभावत्वे प्राकट्यस्यपि परोक्षत्वप्रसङ्गः। ततोऽवश्यं ज्ञानस्य

चक्षुविज्ञान का विशेषण है)। इसलिए चक्षुविज्ञान के संवेदन न होने पर रूप को कैसे जाना जा सकता है ? यह जो कहा गया है वह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है।

ज्ञान की परोक्षता के प्रतिपादन के लिए जो भट्ट ने कहा है कि जैसे रूप आदि का प्रकाश अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकता है इसलिए इन्द्रिय की सिद्धि होती है उसी प्रकार ज्ञान की भी सिद्धि होती है। इसी सम्बन्ध में भाष्य में कहा गया है कि किसी को भी अज्ञात अर्थ में बुद्धि (ज्ञान) की उपलब्धि नहीं होती। ज्ञात अर्थ में तो अनुमान द्वारा बुद्धि (ज्ञान) की उपलब्धि होती है। वार्तिक में कहा गया है कि उसका (ज्ञान का) ज्ञान ज्ञातता के द्वारा होता है। विषय के प्राकट्य (प्रकटता) को ज्ञातता कहा जाता है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्राकट्य को ज्ञान से पृथक् विषय रूप में स्वीकार करने पर उसे जड़ मानना होगा और जड़ मान लेने पर वह प्रकाश के अयोग्य होगा। यदि उसे विषय से अन्य माना जाय तो भी उस अन्य को जड़ मान लेने पर उसमें स्वतः प्रकाशरूपता नहीं रह सकेगी। यदि एक प्राकट्य का प्रकाश दूसरे प्राकट्य से माना जाय तो अनवस्था दोष होगा। प्राकट्य को ज्ञान स्वरूप मानने पर उसे परोक्ष मानना होगा। इसलिये अवश्य ही ज्ञान को स्व

स्वसंवेदनत्वमभिधेयम् । अनुभवप्रसिद्धं च स्वसंवेदनत्वं कथमपह्नूयेत ? तदुक्तम्—

'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति' इति ।

अलङ्कारकारोऽप्याह—

'परोक्षं यदि तत् ज्ञानं ज्ञातमित्येव तत्कुतः ।
परोक्षस्य स्वरूपं कस्तस्य लक्षयितुं क्षमः ॥' इति ।।

ननु सर्वज्ञानानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वे घटोऽयमित्यादिविकल्पज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वं, पीतशङ्खादिज्ञानस्याभ्रान्तत्वं च कथं न भवेत् ? उच्यते-विकल्पज्ञानमपि स्वात्मनि निर्विकल्पमेव । घटोऽयमित्यनेन बाह्यमेवार्थं विकल्पयति, न त्वात्मानम् । तदुक्तम्—

शब्दार्थग्राहि यद्यत्र ज्ञानं तत्तत्र कल्पना ।

संवेदनशील कहाना चाहिए । ज्ञान की स्व संवेदनशीलता अनुभव से सिद्ध है फिर उसे छिपाया कैसे जा सकता है । कहा भी है ।

'ज्ञान के अप्रत्यक्ष होने पर अर्थदृष्टि (अर्थ ज्ञान) की प्रसिद्धि भी नहीं हो सकती ।'

अलंकारकारने भी कहा है कि:—

'वह ज्ञान यदि परोक्ष है तो उसे कैसे जाना जाता है । उस परोक्ष ज्ञान के स्वरूप को लक्षित करने में कौन समर्थ हो सकता है ।'

अब यहाँ यह पूर्व पक्ष उठाया जाता है कि समस्त ज्ञान में स्वसंवेदन प्रत्यक्षत्व मान लेने पर 'यह घट है' इस प्रकार के सविकल्प ज्ञान में निर्विकल्पकत्व तथा पीत शंख आदि ज्ञान में अभ्रान्तत्व क्यों नहीं हो जाता ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि सविकल्प ज्ञान भी अपने स्वरूप में निर्विकल्प ही है । 'यह घट है' इस ज्ञान के द्वारा बाध्य अर्थ का ही विकल्प होता है अपने स्वरूप का नहीं । यह कहा गया है :—

जहाँ पर जो शब्दार्थ का ग्रहण करने वाला है वहाँ वह कल्पना है । शब्दार्थ उसका स्वरूप नहीं है इसलिए वहाँ उसे प्रत्यक्ष (अध्यक्ष) माना जाता है ।

स्वरूपं च न शब्दार्थ तत्राध्यक्षमतोऽभिलषम् । इति ॥
भ्रान्तमप्यात्मन्यभ्रान्तं स्वप्रकाशरूपेणैवावभासनात् । असद्विषयत्वाच्च भ्रान्तिरुच्यते । तदुक्तम्—

'स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपेविपर्ययः' । इति ।
तस्मादन्यथा प्रकाशासिद्धेः यद्यमी प्रकाशन्ते, तदा स्वहेतोरेव प्रकाशस्वभावादुत्पन्नाः सन्तः प्रकाशन्त इति स्वीकर्तव्यम् ॥

योगिप्रत्यक्षनिरूपणम्

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति । योगः समाधिः, चित्तैकाग्रतालक्षणः । निश्शेषवस्तुतत्वविवेचिका प्रज्ञा । योगोऽस्यास्तीति योगी । योगिनो यत् ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । कीदृशं तदिति चेत्, भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजम् । भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः । भावना

भ्रान्त ज्ञान भी अपने आप में अभ्रान्त ही होता है। क्योंकि उसका अवभास स्वप्रकाश रूप में ही होता है। विषय के न विद्यमान (असत् विषयक) होने से उसे भ्रान्ति कहा जाता है। इसे ही कहा गया है :—

अपने स्वरूप में सभी ज्ञान अभ्रान्त है पर रूप में (विषय के सम्बन्ध में) ही विपर्यय कहलाता है। इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य प्रकार से ज्ञान की प्रकाशता की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि ये (ज्ञान) प्रकाशित होते हैं तो प्रकाशस्वभाव वाले अपने कारण से उत्पन्न होकर ही ये प्रकाशित होते हैं। यही स्वीकार करना होगा।

योगिप्रत्यक्ष का निरूपण

भूतार्थ की भावना के प्रकर्षपर्यन्त से उत्पन्न योगिज्ञान भी प्रत्यक्ष है। योग चित्त की एकाग्रता रूप समाधि है। (यह समाधि) अशेष वस्तु के स्वरूप का विवेचन करने वाली प्रज्ञा है। योग (प्रज्ञा) जिसे प्राप्त हो गया है वह योगी है। योगी का जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान कैसा है ? भूतार्थ की भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से उत्पन्न है। प्रमाण से उपपन्न अर्थ भूतार्थ है। बार-बार चित्त

पुनः पुनश्चेतसि समारोपः। भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्ताज्जातं यद्विज्ञानं तत् कल्पनापोढमभ्रान्तम्। भूतार्थश्चतुरार्यसत्यम् दुःख-समुदयनिरोधमार्गसंज्ञकं, पञ्चस्कन्धस्वभावं क्षणिकशून्यनिरात्मक-दुःखादिरूपतया प्रतिपत्तव्यम्। यत्सत् तत् क्षणिकमित्याद्यनुमानेन प्रमाणोपपन्नमुपगन्तव्यमिति ॥

ननु भावना विकल्पः, विकल्पश्चावस्तुविषयः, तत्कथं वस्तुनः स्फुटीभावो भवतु। कथं वा विकल्पो निर्विकल्पतां व्रजेत्? क्षणिकं च चित्तं कथमेकाग्रीभवति? विशेषश्च कस्य केन वा क्रियताम्? शरीरी च रागादिविरहान्मुक्तश्चेति सर्वमसंगतम्। अत्रोच्यते—अवस्तुविषयोऽपि विकल्पो वस्त्वध्यवस्यतीति भावनातो वस्तुन एवात्र स्फुटीभावः। न च विकल्प एव निर्विकल्पकः, किं तु विकल्पान्निर्विकल्पकस्योदयः। अनुभवसिद्धं चैतत् भावयतां निर्विकल्पकप्रति-

---

में समारोप भावना है। भूतार्थ की भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह कल्पना से अपोढ और अभ्रान्त ज्ञान है।

भूतार्थ चार आर्य सत्य हैं जिन्हें दुःख, (दुःख) समुदय, (दुःख) निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग कहा जाता है। पञ्च स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के स्वभाव को क्षणिक, शून्य, अनात्मक, दुःख आदि रूप से मानना चाहिए। 'जो सत् है वह क्षणिक है' इत्यादि को अनुमान प्रमाण से उपपन्न मानना चाहिए।

अब यहाँ पूर्व पक्ष उठाया जाता है कि भावना विकल्प रूप है। विकल्प वस्तु विषयक नहीं होता तब कैसे भावना द्वारा वस्तु का स्फुटीभाव होगा? और विकल्प कैसे निर्विकल्प हो जाएगा? क्षणिक चित्त एकाग्र कैसे होता है? किस में विशेषता किसके द्वारा की जाती है? शरीरी (आत्मा) रागादि से रहित होने के कारण मुक्त है यह सब असंगत है। उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि विकल्प वस्तु विषयक न होता हुआ भी वस्तु का निश्चय कराता है इस भावना से इस में वस्तु का ही स्फुटीभाव होता है। विकल्प ही निर्विकल्प नहीं है अपितु विकल्प से निर्विकल्प का उदय होता है। निर्विकल्पक प्रतिभास

भासनं, कामशोकादिवत्। न हि दृष्टे किञ्चिदनुपपन्नं नाम। क्षणिकमपि चित्तं सजातीयक्षणेषु ग्रहणप्रवीणत्वात् एकाग्रमुच्यते। क्षणिकत्वेनैव विशेषोत्पत्तिः, न तु नित्यत्वेन, नित्यस्यानाधेयातिशयत्वात्। यदुक्तम्—

'नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यत्स्वभावो न नश्यति।
तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता॥
नित्यत्वादचिकित्सस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः' ॥ इति ॥

यत्तु शरीरित्वे सुखदुःखयोर्भावादनुग्रहनिग्रहात् शरीरी रागादिविरहान्मुक्तश्चेति विघटनमुक्तं, तदयुक्तम्। न हि शरीरं रागादिहेतुः, किं तु अविद्या। अनित्ये नित्यमिति, अनात्मन्यात्मेति, दुःखे

की भावना करने वाले लोगों को काम-शोक आदि के समान यह अनुभवसिद्ध है। प्रत्यक्ष सिद्ध के विषय में अनुपपत्ति नाम की कोई चीज नहीं होती। क्षणिक चित्त को भी सजातीय क्षणों में ग्रहण करने में अत्यन्त प्रवीण होने के कारण एकाग्र कहा जाता है। क्षणिक होने के कारण ही विशेष की उत्पत्ति होती है नित्य होने के कारण नहीं। नित्य में किसी प्रकार के अतिशय (विशेषता) का आधान संभव नहीं। जिसे कहा गया है कि :

"विद्वानों ने नित्य उसे कहा है जिसका स्वभाव नष्ट नहीं होता है। उसकी शक्ति या अशक्ति जो भी है वह उसमें स्वभाव से ही है। अचिकित्स (ऐसी वस्तु जिसकी चिकित्सा न हो सके) के नित्य होने के कारण उसको नष्ट करने में कौन समर्थ हो सकता है।"

जो यह दोष दिया गया है कि शरीरी होने पर सुख-दुःख का अस्तित्व तथा अनुग्रह और निग्रह होने के कारण, शरीरी (आत्मा) रगादि रहित होने के कारण मुक्त है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि रागादि का कारण शरीर नहीं है किन्तु अविद्या है।

सुखमिति, अशुचौ शुचितेति, चतुर्विपर्यासस्वभावा मिथ्योपलब्धिः। अत एव विषयसुखतृष्णा स्यात्। आत्मानं नित्यं पश्यत एव सुखाभिकाङ्क्षणादिसुखहेतुरात्मीयः स्यात्। एषु चाऽऽसङ्गो रागः। एतत्प्रतिबन्धाश्च द्वेषादयः। तस्मादविद्यैव मूलं रागादेर्न तु शरीरम्। सत्यपि शरीरे यद्यविद्या न स्यात्, कुत एव रागादियोगाः ? तस्माज्जीवच्छरीरे सत्यपि अविद्याविरहात् सर्वसङ्गविरहलक्षणा मुक्तिर्वीतरागाणां भवतीति सर्वं सुस्थितम्।

प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वसमर्थनम्

तस्य विषयः स्वलक्षणम्। तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषयो बोद्धव्यः। स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुस्वरूपं देशकाला-

---

अविद्या अनित्य में नित्यज्ञान, अनात्मा में आत्म ज्ञान, दुःख में सुख ज्ञान, अशुचि में शुचि ज्ञान इन चार प्रकार का विपर्यय रूप मिथ्या ज्ञान है। इसलिए विषय सुख की तृष्णा होती है। आत्मा को नित्य समझने वाले को ही सुख की अभिलाषा से सुख के कारणों में आत्मीय (अपनापन) भाव हो जाता है। आत्मीय वस्तुओं में आसक्ति ही राग है। द्वेष आदि अन्य दोष इस राग के कारण ही होते हैं इसी से प्रतिबद्ध हैं। इसलिए राग आदि का मूल अविद्या है शरीर नहीं। शरीर न रहने पर भी यदि अविद्या न हो तो राग आदि का सम्बन्ध कहाँ से होगा। इसलिये जीवित शरीर रहने पर भी अविद्या के न रहने पर समस्त आसक्ति से अभाव रूप मुक्ति वीतराग लोगों को होती है यह बिल्कुल स्पष्ट है।

प्रत्यक्ष के स्वलक्षण विषयत्व का समर्थन

उसका (प्रत्यक्ष का) विषय स्वलक्षण होता है। उक्त चारों प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है यही मानना चाहिये। देश, काल, आकार आदि से निश्चित एवं नियत, असाधारण वस्तु रूप स्वलक्षण होता है।

कारनियतम् । एतेनैतदुक्तं भवति—घटादिरुदकाद्याहरणसमर्थो देशकालाकारनियतः पुरः प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मान्तरोदासीनः प्रवृत्तिविषयसजातीयविजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः । ननु यदि स्वलक्षणमेव प्रत्यक्षस्य विषयो न सामान्यं तदानीं धूमदहनसामान्ययोर्व्याप्तिः कथं प्रत्यक्षेण गृह्यताम् ? नायं दोषः । यतोऽयोगव्यवच्छेदेन स्वलक्षणं तस्य विषय एव, न त्वन्ययोगव्यवच्छेदेन स्वलक्षणमेव तस्य विषयः इति । किं तर्हि, सामान्यमप्यस्य विषयः ।

प्रमाणफलव्यवस्था

द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयः ग्राह्योऽध्यवसेयश्च । तत्र प्रत्यक्षस्य प्रतिभासमानं स्वलक्षणं एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षपृष्ठ-

---

इससे यह स्पष्ट किया जाता है कि घट आदि जल आदि को निकालने तथा धारण करने में समर्थ, देश, काल आकार आदि से नियत, सामने दीखने वाला, अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों से युक्त, उदासीन, प्रवृति के विषय में सजातीय विजातीय भेद से व्यावृत्त स्वलक्षण है। जब यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य उसका विषय नहीं है तो धूम सामान्य में अग्नि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा । उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि अयोग व्यवच्छेद-रूप से (अप्राप्त के प्रतिपेध रूप) स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय ही है । किन्तु अन्य योग व्यवच्छेद रूप से (अन्य समस्त प्राप्त के प्रतिपेध रूप से) केवल स्वलक्षण ही उसका विपय नहीं है। तब क्या है ? सामान्य भी उसका विषय है ।

प्रमाण फल व्यवस्था

प्रमाण का विषय दो प्रकार का होता है—ग्राह्य तथा अध्यवसेय । इसमें प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है ।

भाविनो विकल्पस्य प्रतिभासमानं सामान्यमेव। तच्च सामान्यं द्विविधं, ऊर्ध्वतालक्षणं तिर्यग्लक्षणं चेति। तत्रैकस्यामेव घटादिव्यक्तौ सजातीयव्यावृत्तायामनेकक्षणसमुदायः सामान्यं ऊर्ध्वतालक्षणं साधन-प्रत्यक्षस्य विषयः। विजातीयव्यावृत्तास्त्वनेकव्यक्तयः तिर्यक्सामान्यं व्याप्तिग्राहकप्रत्यक्षस्य विषयः। अनुमानस्य तु सामान्यं ग्राह्यं, अध्यवसायस्तु स्वलक्षणमेव। प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयप्रतिपादनेन परोक्ताः षट्पदार्था न विषया इत्युक्तम् यथा-अवयविद्रव्यं, गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषः, समवायश्चेति। न चेषां प्रत्यक्षे ज्ञाने प्रतिभासोऽस्ति। न चाप्रतिभासमानो विषयो युज्यते, अतिप्रसङ्गात्। तथा हि—घटादौ परिदृश्यमाने पूर्वापरादिभागं विहाय नान्यत्किञ्चिदेकमवयविद्रव्यमुपलभामहे। यदाह न्यायपरमेश्वरः—

प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प का प्रतिभास मान सामान्य ही अध्यवसेय विषय है। वह सामान्य दो प्रकार का होता है—उर्ध्वता लक्षण और तिर्यक लक्षण। इनसे एक ही घट आदि व्यक्ति में, जो सजातीय घटादि से व्यावृत है, अनेक क्षणों का समुदाय जो उर्ध्वता लक्षण सामान्य है वह साधन प्रत्यक्ष का विषय है। विजातीय वस्तु से भिन्न जो अनेक व्यक्ति (अनेक घट) तिर्यक् सामान्य हैं वह व्याप्ति ग्राहक प्रत्यक्ष के विषय हैं। अनुमान का ग्राह्य सामान्य होता है और अध्यवसाय स्वलक्षण होता है। स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का विषय प्रतिपादित करने से अन्य मत में निर्दिष्ट षट् पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, यह भी स्पष्ट हो जाता है जैसे अवयवी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय। इन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है। जो प्रतिभासित नहीं होता है उसको विषय मानना संगत नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से अतिव्याप्ति दोष होगा। जैसे कि :—दिखलायी पड़ने वाले घट आदि के पूर्व एवं अपर भाग को छोड़ कर अन्य कोई अवयवी द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। न्यायपरमेश्वर ने यही कहा है कि :—

'भागा एव हि भासन्ते सन्निविष्टास्तथा तथा।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिद्विभागः सम्प्रतीयते ॥' इति।
एवं गुणकर्मादीनां च दूषणं प्रत्येतव्यम् ॥

ननु प्रमितिरूपां क्रियां फलभूतां निष्पादयज्ज्ञानं प्रमाणमिति प्रसिद्धम्। तत्र काऽसौ प्रमितिः, यां जनयज्ज्ञानं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते-इह नीलादेरर्थात् ज्ञानं द्विरूपमुत्पद्यते, नीलाकारं, नीलबोध स्वभावं च। तत्रानीलाकारव्यावृत्त्या नीलाकारं ज्ञानं प्रमाणम्। अनीलबोधव्यावृत्त्या नीलबोधरूपं प्रमितिः। सैव फलम्। यथोक्तम्—'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं, अर्थाधिगतिः प्रमाणफलम्' इति। एतच्च विकल्पप्रत्ययेन भिन्नं व्यवस्थाप्यते। परमार्थ तस्तु नास्त्येव भेदः। यथोक्तम्—'तदेव प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम्' इति। 'साकारं चेदं ज्ञानमेष्टव्यम्'। यदि पुनः साकारं ज्ञानं नेष्यते, तदाऽनाकार-

---

"भिन्न भिन्न प्रकार से सन्निविष्ट भाग ही भासित होते है। तद् वान् (भाग वाला) कोई भी भासित नहीं होता है अपितु विभाग की ही सम्प्रतीति होती है।"

फल भूत प्रमिति रूप क्रिया को निष्पादित करता हुआ ज्ञान प्रमाण होता है यह प्रसिद्ध है। इस में वह प्रमिति क्या है जिसको उत्पन्न करता हुआ ज्ञान प्रमाण होता है? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि—नील आदि अर्थ से ज्ञान दो रूप में उत्पन्न होता है: नीलाकार और नील बोध स्वभाव। इन में अनीलाकार की व्यावृत्ति के द्वारा नीलाकार ज्ञान प्रमाण होता है। अनीलबोध की व्यावृत्ति के द्वारा नील बोध रूप प्रमित होती है। वही फल है। जैसे कहा गया है—इसका अर्थ सारूप्य प्रमाण है और अर्थ की अधिगति फल है। यह विकल्प के प्रयत्न द्वारा भिन्न रूप में व्यवस्थित किया जाता है। परमार्थ रूप से इनमें भेद नहीं है। जैसे कहा गया है कि वहीं प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण और फल है। यह ज्ञान साकार होता है यह विचारणीय है। यदि ज्ञान को साकार नहीं माना जाएगा तो अनाकार होने से भी विषयों में समानता

त्वेन सर्वत्र विषये तुल्यत्वात् विभागेन विषयव्यवस्था न सिध्यति। यत्पुनः केचिदाहुः—पूर्वं ज्ञानं प्रमाणं उत्तरं ज्ञानं प्रमाणफलमिति, तन्न युक्तम्। तथाहिप्रथम क्षणभावि तावज्ज्ञानं प्रमाणफलभूतस्य द्वितीयज्ञानस्यानुत्पत्तेः। फलभूतज्ञानोत्पत्तौ च पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनाशात् कथं घटादिविषयं ज्ञानं प्रमाणं भवति ? नापि समान-कालभावि ज्ञानं फलमुचितम्। उपकार्योपकारकत्वाभावात्, सव्येतरगोविषाणयोरिव। [तस्मात् परमार्थतः प्रमाणफलयोर्नास्ति भेदः। काल्पनिकस्तु व्यावृत्तिकृतो भेदः विकल्पबुद्धौ व्यवस्था-प्यते]॥

इति

तर्कभाषायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः॥

होने के कारण विभाग के द्वारा विषय की व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व ज्ञान प्रमाण होता है और उत्तर ज्ञान फल। किन्तु यह संगत नहीं है। क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले ज्ञान के समय तक प्रमाण का फलभूत द्वितीय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और फल-भूत ज्ञान के उत्पन्न होने पर क्षणिक होने के कारण प्रथम ज्ञान का विनाश हो जाता है ऐसी स्थित में घट आदि का ज्ञान कैसे प्रमाण हो सकेगा ?

समान काल में ही उत्पन्न ज्ञान को फल मानना भी उचित न होगा क्योंकि उन में उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध नहीं रहेगा जैसे गाय के बायें और दायें सींग में। [इसलिए परमार्थ रूप में प्रमाण और फल में भेद नहीं है। दोनों में काल्पनिक भेद व्यावृति के आधार पर विकल्प बुद्धि में किया जाता है।

तर्कभाषा का प्रत्यक्ष परिच्छेद समाप्त।

—× × ×—

स्वार्थानुमानम्

अनुमानस्य द्वैविध्यम् : स्वार्थानुमानलक्षणम्

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। स्वस्मै यत्तत् स्वार्थमनुमानं ज्ञानात्मकम्। पर्वतादौ धर्मिणि धूमादिकं दृष्ट्वा यस्य प्रतिपत्तुः वह्निज्ञानमुत्पद्यते, स एव तेन ज्ञानेन परोक्षमर्थं प्रतिपद्यते नान्य इति स्वार्थानुमानमुच्यते। परस्मै यत्तत् परार्थम्। परार्थानुमानं वचनात्मकम्। त्रिरूपलिङ्गप्रतिपादकं वचनं परं प्रतिपादयति ज्ञापयतीति कृत्वा वचनमप्यनुमानशब्देनोच्यते, उपचारात्, यथा आयुर्घृतमिति। तत्र स्वार्थं त्रिरूपलिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानम्। रूपत्रय-

---

अनुमान के दो प्रकार : स्वार्थानुमान के लक्षण

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जो अपने लिए होता है वह स्वार्थानुमान है, ज्ञान रूप है। पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि हेतु को देखकर देखने वाले को अग्नि आदि साध्य का ज्ञान उत्पन्न होता है। देखने वाले को ही इस ज्ञान से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है दूसरे को नहीं इसलिए इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है। दूसरे के लिए जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है। परार्थानुमान वचनात्मक होता है। तीन रूप में लिंग का प्रतिपादन करने वाला वचन दूसरों को भी अर्थ का प्रतिपादन करता है और ज्ञान कराता है यह मान कर ही वचन को अनुमान से सम्बोधित किया जाता है। यह अनुमान शब्द का लाक्षणिक एवं गौण प्रयोग है जैसे घृत ही आयु है आदि वाक्यों में आयुवर्द्धक घृत में आयु शब्द का प्रयोग होता है। इसमें तीन रूप विद्यमान हेतु से अनुमेय विषयक ज्ञान स्वार्थानुमान है। तीन रूपों से युक्त हेतु से परोक्ष अनुमेय वस्तु का जो ज्ञान ज्ञाता को

युक्ताल्लिङ्गादनुमेये परोक्षविषये यत् ज्ञानं प्रतिपत्तुरुत्पद्यते, तत् स्वार्थानुमानम् । तच्च धर्मविशेषसम्बन्धितया साध्याविनाभावित्व-निश्चय इत्येके । अग्न्यध्यवसाय इत्यन्ये ।

लिङ्गस्य त्रिरूपत्वम्

संप्रति लिङ्गस्य त्रिरूपत्वमुच्यते—अनुमेये सत्त्वमेव निश्चितम् । अनुमेये पर्वतादौ धर्मिणि लिङ्गस्यास्तित्वमेव निश्चितं, तदेकं रूपं पक्षधर्मतासंज्ञकम् । अत्र सत्त्वग्रहणेनासिद्धस्य निरासः, यथा—अनित्यश्शब्दश्चाक्षुषत्वात्, चाक्षुषत्वं चक्षुर्विज्ञानग्राह्यत्वमुच्यते, तच्च शब्दे धर्मिणि नास्ति । एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धस्य निरासः, यथा दिगम्बरप्रयोगः—चेतनास्तरवः स्वापात् । पत्रसङ्कोचलक्षणो हि

उत्पन्न होता है वही स्वार्थानुमान है । उसको कुछ लोग धर्म विशेष से सम्बन्धित होने के कारण साध्य के अविनाभावित्व को निश्चय मानते हैं । और अन्य लोग अग्नि का निश्चय ।

लिंग (हेतु) की त्रिरूपता

इस समय हेतु के तीन रूप का निरूपण किया जा रहा है :—अनुमेय (पक्ष) में अस्तित्व का ही निश्चय होना चाहिए । अनुमेय अर्थात् पर्वत आदि पक्ष में हेतु के अस्तित्व का ही निश्चय रहना चाहिए, यह एक रूप है इसे पक्षधर्मता कहा जाता है । यहाँ सत्व के ग्रहण से असिद्ध का निराकरण किया गया है । जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुषत्व रहने के कारण । चाक्षुषत्व का अर्थ होता है चक्षुर्विज्ञान-ग्राह्यता (अर्थात् चक्षुर्विज्ञान द्वारा गृहीत होने की योग्यता), वह शब्द रूप पक्ष में नहीं है (क्योंकि शब्द का ग्रहण चक्षु से न होकर श्रोत्र से होता है) । उक्त 'अस्तित्व ही' में अस्तित्व पर जोर देने के कारण (एव कारेण) पक्ष के एक देश में असिद्ध हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे दिगम्बर जैनियों का प्रयोग है :—वृक्ष चेतनावान् हैं क्योंकि

स्वापः, स च सर्वेषु तरुष्वसिद्धः। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धस्य निरासः, यथा—अग्निरत्र वाष्पादित्वेन सन्दिह्यमानाद्भूतसंघातात्। सत्वशब्दात्पश्चादेवकारेण असाधारणस्य निरासः, यथा—अनित्यश्शब्दः श्रावणत्वात् घटवत् ॥

सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमिति वर्तते। समानः पक्षः सपक्षः। पक्षेण सह सदृशो दृष्टान्तधर्मीत्यर्थः। सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमित्यन्वयसंज्ञकं द्वितीयं रूपम्। अत्र सत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः, यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवत्। कृतकत्वं हि नित्यत्वविपक्षेणानित्यत्वेन व्याप्तमिति विरुद्धमुच्यते। एवकारेण साधारणस्य निरासः, यथा—नित्यश्शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्। प्रमेयत्वं हि

वे सोते हैं। पत्तों का संकुचित हो जाना ही सोना है किन्तु इस प्रकार पत्तों का संकोच सभी वृक्षों में सिद्ध नहीं हैं। 'निश्चय' कहने के कारण संदिग्ध असिद्ध हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे यहाँ अग्नि है वाष्प आदि के द्वारा संदेह किये गये अद्भुत संघात से युक्त होने के कारण। सत्व शब्द के बाद में ही एव शब्द का प्रयोग होने के कारण असाधारण हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उसका श्रवण प्रत्यक्ष होता है, घट आदि के समान।

सपक्ष में ही अस्तित्व का निश्चय होना चाहिए। समान पक्ष को सपक्ष कहते हैं। पक्ष के सदृश दृष्टान्त रूप धर्मी, इसका अर्थ होता है। सपक्ष में ही (हेतु के) अस्तित्व का निश्चय होना चाहिए यह अन्वय नामक हेतु का दूसरा रूप है। यहाँ अस्तित्व के ग्रहण से विरुद्ध का निराकरण किया गया है जैसे शब्द नित्य है क्योंकि घट आदि के समान उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना नित्यत्व के विपक्षभूत अनित्यत्व से व्याप्त होने के कारण विरुद्ध कहलाता है। एव कार के द्वारा 'साधारण' का निराकरण किया गया है। जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होने के कारण घट के समान। यहाँ प्रमेयत्व हेतु विकल्प में विषय बनाया गया

विकल्पविषयीकृतत्वम्, तच्च सपक्षे आकाशे विपक्षे च घटादौ सर्वत्रास्तीति साधारणमुच्यते । सत्त्वशब्दात् पूर्वस्मिन्नेवकारेण सर्वसपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । यथा— अनित्यश्शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्धटवद्विद्युद्वत् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धान्वयस्य निरासः, यथा—असर्वज्ञोऽयं कश्चित् वक्तृत्वादिष्ट-पुरुषवत् । इष्टपुरुषे सपक्षे च वक्तृत्वम—सर्वज्ञत्वेन व्याप्तमव्याप्तं वा न ज्ञायते ॥

असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् । न सपक्षोऽसपक्षः । तत्रासत्त्व-मेव निश्चितं व्यतिरेकसंज्ञकं तृतीयं रूपम् । अत्राप्यसत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । यथा नित्यश्शब्दः कृतकत्वाद्धटवत् । विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः । प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः अनित्यत्वाद्धटवत् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे

है । वह सपक्ष आकाश तथा विपक्ष घट आदि सभी में समान रूप से रहता है अतः उसे साधारण कहा जाता है । सत्व शब्द के पूर्व में ही 'एव' शब्द द्वारा बल देने के कारण सर्व सपक्ष में अव्याप्त रहने वाले तथा प्रयत्न के अनन्तर आने वाले की भी हेतुता का समर्थन किया गया है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है घट के समान एवं विद्युत् के समान । निश्चित के ग्रहण से सन्दिग्ध अन्वय की निराकरण किया गया है जैसे यह कोई असर्वज्ञ है क्योंकि इसमें वक्तृत्व है । अभीष्ट व्यक्ति में तथा सपक्ष में वक्तृत्व सर्व-ज्ञत्वरूप साध्य का व्याप्त है या अव्याप्त, यह ज्ञात नहीं है ।

असपक्ष में असत्त्व का ही निश्चय होना चाहिए । जो सपक्ष से भिन्न है वह असपक्ष है । उस असपक्ष में असत्त्व (हेतु के अस्तित्व का अभाव) का निश्चय व्यतिरेक नामक हेतु का तीसरा रूप है । यहाँ पर भी असत्त्व के ग्रहण से विरुद्ध का निराकरण किया गया है जैसे शब्द नित्य है, उत्पत्तिमान् होने के कारण, घट के समान । विरुद्ध हेतु विपक्ष में रहता है । एव कार के द्वारा विपक्ष के एक

साध्ये अनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति। आकाशादौ नास्ति। ततो नियमेनास्य निरासः। असत्त्ववचनात्पूर्वस्मिन्नवधारणे अयमर्थः स्यात्। विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः। तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि नास्ति, ततो न हेतुः स्यात्, ततः पूर्वं न कृतमिति। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकस्य निरासः। यथाऽवीतरागोऽयं पुरुषो वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत्। यत्रावीतरागत्वं नास्ति तत्र वक्तृत्वमपि, नास्ति, यथोपलखण्डे। यदि नाम पाषाणखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि न ज्ञायते किमवीतरागत्वनिवृत्त्या पाषाणखण्डाद्वक्तृत्वं निवृत्तं, आहोस्वित् स्वत एवेति। ततः सन्दिग्धव्यतिरेकोऽयमनैकान्तिकः। असत्त्वशब्दात्पश्चादेवकारेण विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः। यथा—प्रयत्नानन्तरीयकशब्दोऽनित्यत्वात्। अनित्यत्वं

देश में रहने वाले साधारण का निराकरण हो जाता है। शब्द प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाला है क्योंकि अनित्य है, घट के समान। प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति होना) के साध्य रहने पर अनित्यत्व हेतु विपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में भी है; और आकाश आदि में नहीं है। इस तरह नियम से ही इसका निराकरण हो जाता है। असत्त्व कथन के पूर्व ही अवधारण (जोर देने) से यह अर्थ होगा कि विपक्ष में ही जो न हो वह हेतु है। ऐसा होने से प्रयत्नानन्तरीकत्व जो सपक्ष में भी नहीं है हेतु नहीं हो सकेगा इसलिए 'एव कार' पूर्व में नहीं किया गया है। निश्चित ग्रहण करने से सन्दिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक (जिसके विपक्ष में न रहने का सन्देह हो) हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे यह पुरुष अवीतराग है वक्ता होने के कारण रथ्यापुरुष के समान। यद्यपि पाषाण के खण्ड से दोनों व्यावृत्त हैं फिर भी यह ज्ञात नहीं होता कि वीतरागत्व की निवृत्ति होने से पाषाण खण्ड से वक्तृत्व निवृत्त है या स्वतः ही। इस प्रकार यह सन्दिग्ध व्यतिरेक अनैकान्तिक है। असत्त्व शब्द के बाद में 'एव कार' होने से विपक्ष के एक देश वृत्ति हेतु का निराकरण हो जाता है। जैसे शब्द प्रयत्नानन्तरीक है अनित्य होने के कारण। यहाँ अनित्यत्व हेतु विपक्ष रूप

विपक्षादाकाशान्निवृत्तं, न विद्युतः। ततो विपक्षैकदेशवृत्तित्वमस्य॥

ननु सपक्ष एव सत्त्वमित्युक्ते सामर्थ्यादेवासपक्षे चासत्त्वमिति गम्यते। तत्किमर्थमुभयोरुपादानमिति चेत्, विपक्षनियमार्थमिति पूर्ववृद्धाः। ते च त्रिविध एव विपक्षो भवतीति मन्यन्ते। साध्याभावमात्रं, साध्यादन्यः, साध्येन सह विरुद्धश्च। प्रयोगनियमार्थमिति केचित्। अन्वयप्रयोगो व्यतिरेकप्रयोगो वा नियमवानेकः प्रयोक्तव्यो न द्वावपीति। साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगसूचनार्थमिति केचित्।

कार्यस्वभावानुपलब्धिहेतोर्निरूपणम्

त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि। त्रीणि रूपाणि येषां तानि त्रिरूपाणि त्रीण्येव लिङ्गानि। कार्यं त्रिरूपं लिङ्गम्। स्वभावस्त्रिरूपं

आकाश आदि से व्यावृत्त होने पर भी विद्युत् आदि से व्यावृत्त नहीं है। इस लिए इसमें विपक्ष के देश में वृत्तिता है।

अब यहाँ आशंका कि जाती है कि सपक्ष में ही सत्व हो इस कथन के सामर्थ्य से ही असपक्ष में असत्व का बोध हो जाता है तब किस लिए दोनों का निर्देश किया गया है? (इसके उत्तर के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं)। पूर्व वृद्ध विचारकों के अनुसार उक्त कथन विपक्ष के नियमन के लिए किया गया है। वे लोग यह मानते हैं कि विपक्ष तीन प्रकार का ही होता है—साध्याभावमात्र, साध्य से भिन्न और साध्य का विरुद्ध। कुछ लोगों के अनुसार उक्त कथन प्रयोग के नियमन के लिए है। अन्वय प्रयोग अथवा व्यतिरेक प्रयोग नियम वाले को किसी एक का ही प्रयोग करना चाहिए दोनों का नहीं। कुछ लोग साधर्म्य वैधर्म्य के प्रयोग की सूचना के लिए उक्त कथन को महत्व देते हैं।

कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि के हेतुत्व का निरूपण

तीन रूप का अर्थ है तीन लिङ्ग है। तीन रूप हो जिनके वे त्रिरूप हैं अर्थात् तीन ही लिङ्ग हैं। कार्य त्रिरूपलिङ्ग है। स्वभाव त्रिरूप लिङ्ग

लिङ्गम् । अनुपलब्धिस्त्रिरूपं लिङ्गम् । साधनं ज्ञापकं हेतुर्व्याप्यं चेति लिङ्गापरनामानि । तत्र कार्यं यथा—यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसे, धूमश्चात्रेति । व्याप्तिपक्षधर्मतासंज्ञकं द्व्यवयवमेव साधनवाक्यं सौगतानाम् । अन्ये तु प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनं चेति पञ्चावयवं साधनवाक्यमाहुः । उपन्यासश्चेदृशः—अग्निरत्र, धूमात्, यत्र-धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसे, तथा चायं, तस्मादग्निरिति । एतच्चायुक्तम् । प्रतिज्ञावचनमात्रात्सम्बन्धरहितात् साध्यप्रतिपत्तेरयोगात् । सम्बन्धाभावस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्धदूषणे प्रतिपादितत्वान्न पुनरुच्यते । प्रतिज्ञामन्तरेण पञ्चम्यन्तहेतुप्रयोगोऽप्ययुक्तः । हेतुं विनोपनयदृष्टान्तावप्ययुक्तौ । यत्र प्रतिज्ञैव नास्ति तत्र प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं कुतो भविष्यतीति सर्वमामूलं विशीर्णम् । अयं च कार्यहेतुर्विषय

है । अनुपलब्धि त्रिरूप लिङ्ग है । साधन, ज्ञापक, हेतु, व्याप्य आदि लिङ्ग के अन्य नाम हैं । इसमें कार्य, जैसे—जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है जैसे रसोई घर, धूम यहाँ है । व्याप्ति पक्ष-धर्मता नामक दो ही साधन वाक्य सौगत मत में मान्य हैं । अन्य लोग (नैयायिक) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पंचावयव साधन वाक्य मानते हैं । इनका उपन्यास इस प्रकार है । यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है; जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है जैसे पाकशाला; उसी प्रकार यहाँ (धूम) है इसलिए यहाँ अग्नि है । किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि सम्बन्ध रहित प्रतिज्ञा मात्र के निर्देश से साध्य का ज्ञान संभव नहीं । सम्बन्धाभाव का प्रतिपादन शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के दोष विचार के प्रसंग में किया जा चुका है । इसलिए पुनः उसे नहीं कहा जा रहा है । प्रतिज्ञा के बिना पञ्चमी विभक्ति से युक्त हेतु का प्रयोग भी उपयुक्त नहीं है । हेतु के बिना उपनय तथा दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं हैं । जहाँ प्रतिज्ञा ही नहीं है वहाँ प्रतिज्ञा का पुनः निरूपण रूप निगमन कैसे हो सकेगा । इस प्रकार सब कुछ जड़ से ही समाप्त हो जाता है । यह कार्य रूप हेतु विषय के

भेदेन त्रिविधः। अग्न्यादौ साध्ये धूमादिः त्रिविधप्रत्यक्षानुपलम्भेन निश्चेतव्यः। चक्षुरादौ साध्ये ज्ञानं कादाचित्ककार्योत्पादान्निश्चीयते। रूपादौ साध्ये रसादिरेकसामग्र्यधीनतया निश्चीयते। यथा मातुलुङ्गफले रसाद्रूपानुमानम्। न रूपाद्रसानुमानम्। अत्र रूपे जनयितव्ये पूर्वकं रूपमुपादानम्। रसस्तु सहकारिकारणम्। पूर्वपुञ्जादुत्तरपुञ्जस्योत्पत्तौ न्याय एषः। ननूपादानसहकारिकारणयोरन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य कार्यं प्रति तुल्यत्वात्को भेदः? उच्यते। यद्विक्रियया यन्निष्पत्तिरेकसन्ताने तत्कार्यं प्रति पूर्वकमुपादानम्। यत्सन्तानान्तरे विशेषोदयनिमित्तं तत्सहकारिकारणम्। यथा शाल्यंकुरे जनयितव्ये शालिबीजमुपादानम्, क्षितिसलिलादि तत्र सहकारि। तदेवं कार्यहेतुस्तदुत्पत्तिसम्बन्धात् गमक इति स्थितम्॥

भेद से तीन प्रकार का होता है। अग्नि आदि के साध्य होने पर धूम आदि हेतु तीन प्रकार के प्रत्यक्ष के अनुपलम्भ से निश्चित किया जाता है। चक्षु आदि के साध्य होने पर ज्ञान कभी-कभी कार्य की उत्पत्ति करने के कारण निश्चित किया जाता है। रूप आदि के साध्य होने पर रस आदि एक सामग्री के अधीन होने के कारण निश्चित किये जाते हैं। जैसे मातुलुङ्ग के फल में रस से रूप का अनुमान होता है। रूप से रस का अनुमान नहीं होता। यहाँ रूप की उत्पत्ति में पहले के रूप उपादान कारण हैं रस तो सहकारी कारण है। पूर्व पुञ्ज से उत्तर पुञ्ज की उत्पत्ति में भी यही न्याय है। यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि उपादान और सहकारी कारणों में अन्वय और व्यतिरेक का समान उपयोग होने से दोनों ही कार्य के लिए समान हैं तो दोनों में भेद क्या है? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि जिसकी विकृति के कारण एक ही सन्तान में जिसकी उत्पत्ति होती है उस कार्य के प्रति वह उपादान कारण है। जैसे धान के अंकुर को उत्पन्न करने में धान का बीज उपादान कारण है और मिट्टी-पानी आदि उसमें सहकारी कारण हैं। तब इस प्रकार कार्य हेतु उत्पत्ति सम्बन्ध से साध्य का साधक होता है।

स्वभावो यथा—स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे यो हेतुरुच्यते स तस्य साध्यस्य धर्मस्य स्वाभावो बोद्धव्यः। यथा—वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वात्। अयमिति पुरः परिदृश्यमानः पदार्थो धर्मी। शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति हेतुः। शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति कोऽर्थः? शाखापत्रवर्णसंस्थानविशेष-व्यवहारयोग्यत्वादित्यर्थः। वृक्षव्यवहारयोग्यत्वं साध्यम्। नन्वेकत्वे साध्यसाधनभावो न युक्तः, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात्। न। अभेदेऽपि कश्चित्प्रतिपत्ता शिंशपाव्यवहारं कृत्वा तत्र वृक्षव्यवहारं प्राक् कृतमपि व्यामोहात् किञ्चिदारोप्य पुनर्न करोति। स इदानीं स्वभावहेतुना व्यवहार्यते। तस्मादेतयोः परमार्थत एकत्वेऽपि विकल्प-बुद्धौ व्यावृत्तिसमाश्रयेण समुत्पन्नायां भेदेन प्रतिभासनात् साध्यसा-धनत्वं न विरुध्यत इति॥

स्वभाव : जैसे—स्वभाव अर्थात् अपने सत्ता मात्र तक रहने वाले साध्य धर्म में जो हेतु कहा जाता है उसे उस साध्य धर्म का स्वभाव समझना चाहिए। जैसे यह वृक्ष व्यवहार योग्य है क्योंकि यह शिंशपा (सिसम) व्यवहार योग्य है। यह (अयम्) अर्थात् सामने दीखने वाला पदार्थ धर्मी। शिंशपा- व्यवहार योग्य होना हेतु है। शिंशपा व्यवहार योग्य होने का अर्थ क्या है? शाखा, पत्ते, वर्ण, आकार विशेष से व्यवहार योग्य होना इसका अर्थ है। वृक्ष व्यवहार योग्यत्व साध्य है। यह आशंका की जाती है कि एक को ही साध्य और साधन मानना उचित नहीं है क्योंकि वह प्रतिज्ञार्थ का ही एक देश होता है। उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि उक्त आशंका ठीक नहीं है। जैसे कोई ज्ञाता अभेद रहने पर भी शिंशपा व्यवहार के उपरान्त पहले वृक्ष का व्यवहार किये रहता है किन्तु व्यामोह वश किसी चीज के आरोप से वह पुनः वैसा व्यवहार नहीं करता। वह ऐसे अवसर पर स्वभाव हेतु के द्वारा अनुमान करके व्यवहार करता है। इसलिए इन दोनों को परमार्थतः एक होने पर भी व्यावृत्ति के कारण उत्पन्न विकल्प बुद्धि में भिन्न रूप से प्रतिभासित होने के कारण साध्य मानने में कोई विरोध नहीं होता।

अनुपलब्धिर्यथा—नास्तीह प्रदेशे घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति दृश्यस्येत्यर्थः। नन्वसतः कथं दृश्यता? एकेन्द्रियज्ञानग्राह्ये प्रदेशा दावुपलभ्यमाने यदि घटः स्यात् दृश्य एव भवेदिति। उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यात् दृश्यतया सम्भावितः, न तु दृश्य एव। तस्यानुपलब्धेरिति हेतुः। स चैकज्ञानसंसर्गिपदार्थादेकज्ञानसंसर्गिपदार्थोपलम्भाद्वा निश्चीयत इति तदुभयं कर्मकर्तृभावेन पर्युदासवृत्त्या अनुपलब्धिरुच्यते, न तु प्रसज्यवृत्त्या उपलब्धिनिवृत्तिमात्रम्। तद्धि स्वयमेव न किञ्चिदिति कथं साधनं स्यात्। नापि प्रतिषेध्यादन्यस्य ज्ञानमात्रम्, रूपोपलम्भादपि नारङ्गरसनिषेधप्रसङ्गात्। तस्मान्निषेध्यादन्यद्विशिष्टमेव वस्तुद्वयं प्रदेशः प्रदेशज्ञानं वाऽनुपलब्धिरिति स्थितम्। अत एवाभावो न साध्यते। तस्य घटविविक्तप्रदेशग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात्।

अनुपलब्धि, जैसे—इस स्थान पर घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि के लक्षणों से युक्त घट की उपलब्धि नहीं हो रही है। उपलब्धि-लक्षण से युक्त का अर्थ है दृश्य या दिखलायी पड़ने योग्य। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि असत् वस्तु की दृश्यता कैसे हो सकती है? एक इन्द्रिय से ग्राह्य स्थान के उपलब्ध हो जाने पर यदि घट है तो दृश्य ही होगा। उपलब्ध अन्य प्रत्ययों की सम्पूर्णता से दृश्य रूप से सम्भावना होती है यह निश्चय नहीं होता कि दृश्य ही है। उसी दृश्य रूप से सम्भावित की अनुपलब्धि ही हेतु है। वह एक ज्ञान से सम्बन्धित पदार्थ से अथवा एक ज्ञान के सम्बन्धित पदार्थ की उपलब्धि से निश्चित होता है और ये दोनो कर्म-कर्तृभाव से पर्युदास वृत्ति के द्वारा अनुपलब्धि कहे जाते हैं। प्रसज्य वृत्ति के द्वारा उपलब्धि की निवृत्ति मात्र ही अनुपलब्धि नहीं है। वह तो स्वयं ही कुछ नहीं है वह साधन कैसे होगी। प्रतिषेध्य से अन्य का ज्ञान मात्र भी अनुपलब्धि नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर रूप के उपलब्ध होने से भी नारंगी के रस का निषेध होने लगेगा। इसलिए निषेध्य से अन्य से विशिष्ट ही दो वस्तु, प्रदेश अथवा प्रदेश ज्ञान अनुपलब्धि है यह निश्चित हुआ। इसलिए अभाव को सिद्ध नहीं किया जाता है। उसकी सिद्धि तो घट रहित

अभावव्यवहारस्तु मूढं प्रति अनुपलम्भेन साध्यते। तथा हि—कश्चिन्मूढो रजःप्रभृतिषु सांख्यप्रसिद्धेषु गुणेष्वनुपलम्भेन प्रवर्तिताभावव्यवहारोऽपि पुनः सर्वं सर्वत्रास्तीति स्वसिद्धान्ताभ्यासात् क्वाऽपि प्रदेशादौ घटानुपलम्भे सत्यपि नाभावव्यवहारं करोतीत्यनुपलम्भेन त्रिविधो व्यवहारः कार्यते। तत्र निःशङ्कगमनागमनलक्षणः कायिको व्यवहारः। घटो नास्तीति वाचिकः। ईदृश एव अन्तर्जल्पाकारो मानसिकश्चेति। अनुपलम्भस्य कर्मधर्मपक्षे साध्येन सह [सादृश्ये] तादात्म्यलक्षण एव सम्बन्धो बोद्धव्यः। कर्तृधर्मपक्षे तु तदुत्पत्तिः। तथा हि—घटविविक्तप्रदेशः प्रदेशज्ञानं वाऽनुपलब्धिरित्युक्तम्। असद्व्यवहारयोग्यत्वं च तस्य स्वभावः [न कार्यं] ज्ञानं तु प्रदेशस्य कार्यमिति॥

स्थान को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से ही हो जाती है। अभाव व्यवहार तो मूढ़ व्यक्ति के लिए अनुपलब्धि के द्वारा सिद्ध किया जाता है। जैसे कि मूढ़ व्यक्ति सांख्य दर्शन में प्रसिद्ध रजस् आदि गुणों के प्रति अनुपलब्धि के द्वारा अभाव व्यवहार में तो प्रवर्तित होता है फिर भी सब कुछ सब जगह रहता है इस प्रकार के अपने सिद्धान्त के अभ्यास से किसी स्थान विशेष में घट के अनुपलब्ध होने पर भी अभाव का व्यवहार नहीं करता है इसलिए अनुपलब्धि के द्वारा तीन प्रकार का व्यवहार कराया जाता है। निशंक होकर आना और जाना यह शारीरिक व्यवहार है। घट नहीं है यह वाचिक व्यवहार है। इसी प्रकार आन्तरिक जल्प के स्वरूप का मानसिक व्यवहार भी है। अनुपलम्भ का कर्म के धर्म के पक्ष में साध्य के साथ तादात्म्य रूप ही सम्बन्ध समझना चाहिए। कर्ता के धर्म के पक्ष में तो उससे उत्पत्ति सम्बन्ध समझना चाहिए। असत् व्यवहार की योग्यता तो उसका स्वभाव है (कार्य नहीं); स्थान का ज्ञान तो कार्य है।

ननु यद्यनुपलब्धेरपि तादात्म्यतदुत्पत्ती एव सम्बन्धौ, कथं तर्हि कार्यस्वभावाभ्यामनुपलब्धेर्भेदः ? प्रतिषेधसाधनात् भेदो न वस्तुतः। यथोक्तमाचार्येण—'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एकः प्रतिषेधहेतुः' इति। उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशिष्टेन देशविप्रकृष्टे सुमेर्वादौ कालविप्रकृष्टे भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्यादौ स्वभावविप्रकृष्टे पिशाचादावनुपलम्भमात्र सम्भवेऽपि नाभावव्यवहार इत्युक्तं भवति। इयं चानुपलब्धिर्वर्तमानकाले प्रमाणं विशिष्टस्मरणसद्भावेऽतीतकाले च, अनागतकाले त्वनुपलब्धिः स्वयमेव सन्दिग्धरूपा। ततो न प्रमाणम्। [अनयाऽनुपलब्ध्याऽभावव्यवहारः साध्यते, न त्वभावः। तस्य प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वादित्युक्तम् प्राक्] यथाऽऽह न्यायवादी—'असूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरनु-

---

अव यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि अनुपलब्धि का भी सम्बन्ध तादात्म्य और तद् उत्पत्ति ही है तो कार्य और स्वभाव से अनुपलब्धि में कैसे भेद है ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि वस्तुतः भेद नहीं है, प्रतिषेध के साधन करने से भेद है। जैसे कि आचार्य ने कहा है:—यहाँ दो वस्तु साधन हैं एक प्रतिषेध हेतु है। उपलब्धि के लक्षण की प्राप्तिता से युक्त व्यक्ति को दूरस्थ देश में विद्यमान सुमेरु आदि की, काल से दूरस्थ भविष्यत् काल में होने वाले शंखचक्रवर्ति आदि की, तथा स्वभाव से दूर पिशाच आदि की अनुपलब्धि मात्र के होने से भी अभाव व्यवहार नहीं होता है वह स्पष्ट हो जाता है। यह अनुपलब्धि वर्तमान काल में ही प्रमाण है। विशिष्ट के स्मरण रहने पर भूतकाल में भी प्रमाण हो सकती है किन्तु भविष्यत् काल में अनुपलब्धि स्वयं ही संदिग्ध रूप होती है; इसलिए प्रमाण नहीं है। [इस अनुपलब्धि से अभाव का व्यवहार सिद्ध किया जाता है अभाव नहीं क्योंकि अभाव तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाता है यह कहा जा चुका है]। जैसे न्यायवादी का कहना है कि जिस अतीत की स्मृति एवं संस्करण कुण्ठित नहीं हो उस अतीत की और वर्तमान काल की, किसी ज्ञाता के प्रत्यक्ष की निवृत्ति रूप अनुपलब्धि,

पलब्धिरभावव्यवहारसाधनी' इति। तत्र यदा दूरत्वान्निषेध्यस्यायोग्य-देशत्वं स्यात्, तदा दृश्यानुपलब्धिः साक्षात्प्रयोक्तुं न शक्यत इति कार्यानुपलब्ध्यादयः प्रयुज्यन्ते। अत एवेयं प्रयोगभेदेन षोडशधा भवति। (१) तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्र धूमः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। प्रतिषेध्यस्य धूमस्य यः स्वभावः तस्येहानुपलब्धिः। (२) कार्यानुपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावात्। प्रतिषेध्यानां हि धूमकारणानां कार्यं धूमः, तस्येहानुपलब्धिः। (३) कारणानुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र धूमः दहनाभावात्। प्रतिषेध्यस्य धूमस्य कारणं दहनः, तस्येहानुपलब्धिः। (४) व्यापकानुपलब्धिर्यथा—नात्र शिंशपा, वृक्षाभावात्। प्रतिषेध्यायाः शिंशपायाः व्यापको वृक्षः, तस्येहानुपलब्धिः। (५) स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नात्र शीतस्पर्शः वह्नेरिति। प्रतिषेध्यस्य

अभाव व्यवहार की साधिका है। ऐसी स्थिति में जब दूर आदि होने के कारण निषेध्य वस्तु में उचित देश आदि योग्यता नहीं रहती तब दृश्य की अनुपलब्धि का साक्षात् प्रयोग करना संभव नहीं होता इसलिए कार्यानुपलब्धि आदि का प्रयोग किया जाता है। इसलिए यह प्रयोग के भेद से सोलह प्रकार की हो जाती है। (१) स्वभावानुपलब्धि जैसेः – यहाँ धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि के लक्षण युक्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। (२) कार्यानु-पलब्धि जैसेः—यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं है क्योंकि धूम का अभाव है। प्रतिषेध्य जो धूम के कारण हैं उसका कार्य रूप धूम है उसकी अनुपलब्धि है। (३) कारण की अनुपलब्धि जैसेः—यहाँ धूम नहीं है अग्नि के न होने के कारण। प्रतिशेध्य धूम उसके कारण जो अग्नि है उसकी यहाँ अनुपलब्धि है। (४) व्यापकानुपलब्धि जैसेः—यहाँ शिंशपा (सिसम का वृक्ष) नहीं है क्योंकि वृक्ष नहीं है। प्रतिषेध्य शिंशपा से व्यापक जो वृक्ष है वह यहाँ अनुपलब्धि है। (५) स्वभाव विरुद्ध-उपलब्धि जैसेः—यहाँ शीत स्पर्श नहीं है क्योंकि अग्नि है। प्रतिषेध्य शीत स्पर्श का जो स्वभाव है उससे विरुद्ध अग्नि है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (६) कार्यविरुद्ध-उपलब्धि जैसे-यहाँ अप्रतिबद्ध

शीतस्पर्शस्य यः स्वभावः तस्य विरुद्धो वह्निः तस्य चेहोपलब्धिः। (६) कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति। अन्त्यदशाप्राप्तमेव कारणं कार्यं जनयति, न सर्वं कारणम् ततो विशेषणोपादानम्। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं, तस्य विरुद्धो वह्निः, तस्येहोपलब्धिः (७) कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्ति, सन्निहितदहनविशेषत्वात्। प्रतिषेध्यानां रोमहर्षादिविशेषाणां कारणं शीतं, तस्य विरुद्धो दहनविशेषः, तस्य चेहोपलब्धिः। (८) व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नात्र तुषारस्पर्शः, दहनात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं, तस्य विरुद्धो दहनविशेषः तस्येहोपलब्धिः। (९) स्वभावविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा, नात्र शीतस्पर्शः, धूमात्। प्रतिषेध्यस्य शीतस्पर्शस्य यः स्वभावस्तस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१०) कार्यविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीत-

---

सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं हैं अग्नि के होने के कारण। अन्त्यदशा को प्राप्त करने वाले कारण ही कार्य को उत्पन्न करते हैं सभी कारण नहीं इसलिए कारण में उक्त विशेषण का उपयोग किया गया है। प्रतिषेध्य शीत के कारणों का कार्य शीत है उसका विरुद्ध अग्नि है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (७) कारण विरुद्ध-उपलब्धि-जैसे-इस व्यक्ति के रोम विशेष प्रकार से खड़े नहीं हो रहे हैं क्योंकि यह अग्नि विशेष के समीप है। प्रतिषेध्य 'विशेष प्रकार से रोम के खड़ा होने' का कारण शीत, उसका विरुद्ध जो अग्नि विशेष है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (८) व्यापक विरुद्धउपलब्धि:—जैसे:—यहाँ तुषार स्पर्श नहीं है अग्नि होने के कारण। प्रतिषेध्य तुषार के स्पर्श का व्यापक शीत, उसका विरुद्ध अग्नि विशेष उसकी यहाँ उपलब्धि है। (९) स्वभाव विरुद्ध कार्य उपलब्धि-जैसे:—यहाँ शीत स्पर्श नहीं है धूम होने के कारण। प्रतिषेध्य शीत स्पर्श का जो स्वभाव है उसका विरुद्ध अग्नि, उसका कार्य धूम, उस धूम की यहाँ उपलब्धि है। (१०) कार्य विरुद्ध कार्य-उपलब्धि:—जैसे:—यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं हैं धूम के रहने के कारण। प्रतिषेध्य शीत

कारणानि सन्ति धूमादिति। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं, तस्य विरुद्धो, वह्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः, (११) कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न रोमहर्षादिविशेषयुक्तस्पर्शवानयं प्रदेशो धूमादिति। प्रतिषेध्यानां हि रोमहर्षादिस्पर्शविशेषाणां कारणं शीतम् तस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१२) व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा-नात्र तुषारस्पर्शः, धूमादिति। निषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतम्, तस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१३) स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नात्र वह्निः, तुषारस्पर्शात्। प्रतिषेध्यस्य हि वह्नेर्यः स्वभावस्तस्य विरुद्धं शीतम्, तेन व्याप्तस्तुषारस्पर्शः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१४) कार्यविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि वह्निकारणानि सन्ति, तुषारस्पर्शादिति। प्रतिषेध्यानां वह्निकारणानां कार्यं वह्निः, तस्य

के कारण का कार्य शीत है, उसका विरुद्ध अग्नि है, उसका धूम जिसकी यहाँ उपलब्धि है। (११) कारणविरुद्ध कार्य उपलब्धि:-जैसे:—यह स्थान रोम खड़ा कराने वाला स्पर्श विशेष वाला नहीं है क्योंकि यहाँ धूम है। प्रतिषेध्य रोम खड़ा कराने वाले स्पर्श विशेष का कारण शीत, उसका विरुद्ध अग्नि, उसका कार्य धूम, उसकी यहाँ उपलब्धि है। (१२) व्यापक विरुद्ध कार्य-उपलब्धि:—जैसे:—यहाँ तुषार स्पर्श नहीं है क्योंकि धूम है। निषेध्य तुषार स्पर्श का व्यापक शीत, उसका विरुद्ध अग्नि, उसका कार्य धूम, उस धूम की उपलब्धि है। (१३) स्वभाव विरुद्ध व्याप्त-उपलब्धि : जैसे:—यहाँ अग्नि नहीं है तुषार के स्पर्श होने के कारण। प्रतिषेध्य अग्नि का जो स्वभाव है उसका विरुद्ध शीत है, उससे व्याप्त तुषार स्पर्श है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (१४) कार्य विरुद्ध व्याप्त-उपलब्धि : जैसे:—यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले अग्नि के कारण नहीं हैं क्योंकि तुषार का स्पर्श है। प्रतिषेध्य अग्नि-कारणों का कार्य अग्नि, उसका विरुद्ध शीत उससे व्याप्त तुषार-स्पर्श उसकी यहाँ उपलब्धि है। (१५) कारण विरुद्ध व्याप्त उपलब्धि : जैसे:—यहाँ धूम

विरुद्धं शीतम्, तेन व्याप्तस्तुषारस्पर्शः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१५) कारणविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा-नात्र धूमस्तुषारस्पर्शादिति। प्रतिषेध्यस्य हि धूमस्य यत्कारणमग्निः तस्य विरुद्धं शीतम्, तेन व्याप्तस्तुषारस्पर्शः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१६) व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नायं नित्यः, कदाचित्कार्यकारित्वात्। प्रतिषेध्यस्य नित्यत्वस्य निरतिशयत्वं व्यापकं, तस्य विरुद्धं सातिशयत्वं, तेन व्याप्तं कदाचित्कार्यकारित्वं, तस्य चेहोपलब्धिः। एते च कार्यानुपलब्ध्यादयः पञ्चदश प्रयोगाः स्वभावानुपलब्धिस्वभावा एव प्रतिपत्तव्याः। प्रयुक्तिभेदेन परं भेदः। तत्र स्वाभावानुपलम्भेनासद्व्यवहारयोग्यत्वं साध्यते, न त्वभावः। तस्य च प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात्। अपरैश्च सर्वैरभावोऽभावव्यवहारश्च साध्यते, तेषां परोक्षविषयत्वात्॥

इति तर्कभाषायां स्वार्थानुमानपरिच्छेदो
द्वितीयः समाप्तः॥

नहीं है तुषार-स्पर्श होने के कारण। प्रतिषेध्य धूम का जो कारण अग्नि है, उसका विरुद्ध शीत है, उससे व्याप्त तुषार-स्पर्श है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (१६) व्यापक विरुद्ध व्याप्त-उपलब्धिः—जैसेः—यह नित्य नहीं है क्योंकि यह कदाचित् कार्य करने वाला है। प्रतिषेध्य नित्यत्व का व्यापक निरतिशयत्व है उसका विरुद्ध सातिशयत्व है उससे व्याप्त कदाचित् कार्यकारित्व है उसकी यहाँ उपलब्धि है। इन कार्यानुपलब्धि आदि प्रयोगों को स्वभावानुपलब्धि रूप ही समझना चाहिए। प्रयुक्ति भेद से ही ये भेद हैं। वहाँ स्वभाव के अनुपलम्भ के द्वारा असत् व्यहार की योग्यता को सिद्ध किया जाता है अभाव को नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि तो प्रत्यक्ष से ही हो जाती है। दूसरे सभी अभाव को और अभाव व्यवहार को सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मत में वे परोक्ष विषय हैं (और प्रत्यक्ष विषय नहीं हैं)।

यह तर्कभाषा का स्वार्थानुमान द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

परार्थानुमानम्

परार्थानुमानलक्षणम् :

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् । अन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मता-संज्ञकानि त्रीणि रूपाणि येन वचनेन प्रख्याप्यन्ते तद्वचनमुपचारादनु-मानशब्देनोच्यते ॥

तस्य द्वैविध्यम:

तद्द्विविधम् साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्च । साध्यधर्मिदृष्टान्तधर्मिणोर्हे-तुसत्ताकृतं सादृश्यं साधर्म्यम् । तद्यस्यास्ति तत् साधर्म्यवत् साधन-वाक्यम् । साध्यधर्मिदृष्टान्तधर्मिणोर्हेतुसत्ताकृतं वैसादृश्यं वैधर्म्यम् । तद्यस्यास्ति तद्वैधर्म्यवत् साधनवाक्यम् ।

परार्थानुमान : लक्षण तथा दो प्रकार

तीन रूपों में लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है । अन्वय, व्यतिरेक तथा पक्षधर्मता नामक तीन रूप जिस वचन से कहे जाते हैं वह वचन (कथन) औपचारिक रूप से अनुमान कहलाता है ।

वह दो प्रकार का होता है साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् । साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी दोनों में हेतु की सत्ता के कारण उत्पन्न सादृश्य साधर्म्य है । वह साधर्म्य जिस साधन वाक्य में होगा वह साधर्म्यवत् साधन वाक्य कहा जाएगा । साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी में हेतु की सत्ता के कारण उत्पन्न वैसादृश्य (असमानता) वैधर्म्य है । वह जिस साधनवाक्य में होगा वह वैधर्म्यवत् साधन वाक्य है ।

स्वभावहेतोस्साधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम्

संस्कृतस्य सर्वस्य क्षणिकत्वसमर्थनं च

तत्र स्वभावहेतोः साधर्म्यवन्तं प्रयोगं दर्शयितुं सौत्रान्तिकमतमाश्रित्य भगवता यदुक्तं, "संस्कृतं क्षणिकं सर्वं" इति तद्व्युत्पाद्यते। समेत्य सम्भूय हेतुप्रत्ययैः कृतं वस्तुजातं संस्कृतम्। क्षणिकमिति उत्पत्तिक्षण एव सत्त्वात्। सर्वं तावत् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसन्निधौ नाशं गच्छत् दृश्यते। तत्र येन स्वरूपेण अन्त्यावस्थायां घटादिकं विनश्यति तच्चेत् स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यमिति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम्। अथेदृश एव स्वभावस्तस्य स्वहेतोर्जातः, यत् कियन्तं कालं स्थित्वा विनश्यतीति। एवं तर्हि मुद्गरादिसन्निधाने च एष एव तस्य स्वभाव इति

स्वभाव हेतु के साधर्म्यवत् प्रयोग का निरूपण

तथा समस्त संस्कृत वस्तु के क्षणिकत्व का समर्थन

इस प्रसंग में स्वभाव हेतु के साधर्म्यवत् प्रयोग को दिखलाने के लिए सौतान्तिक मत का आश्रय लेकर भगवान् ने जो कहा है कि 'जो कुछ भी संस्कृत है वह सब क्षणिक है', उसका व्युत्पादन किया जाता है। सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होकर, हेतु प्रत्यय द्वारा उत्पन्न वस्तु-समूह संस्कृत कहलाता है। क्षणिक का अर्थ है जो उत्पत्ति-क्षण में ही रहता हो। सभी वस्तुयें घट आदि मुग्दर आदि के आघात से नष्ट होती हुई देखी जाती हैं। यहाँ पर जिस रूप से घट आदि अन्तिम अवस्था में विनष्ट होते हैं वह स्वरूप यदि उत्पन्न मात्र का है तब तो उत्पत्ति के बाद ही वह विनष्ट हुआ इस प्रकार उसकी क्षणिकता स्पष्ट है। यदि यह माना जाय कि उसका यह स्वभाव कि वह कुछ काल तक रहकर ही विनष्ट होगा, ही अपने हेतु से उत्पन्न होता है तब तो मुद्गर आदि के आघात के समय भी उसका यह स्वभाव

पुनरप्यनेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यम्, पुनरप्येवमिति नैव विनश्येदिति। तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवद्द्वितीयक्षणेऽपि क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपरं क्षणद्वयमवतिष्ठेत। एवं तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येदिति। स्यादेतत्, स्थावरमेव तद्वस्तु स्वहेतोर्जातम्, बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यत इति। तद सत्; कथं पुनरेतद्युज्यते, न च तद्विनश्यति स्थावरत्वात्, विनाशश्च तस्य विरोधिना बलेन क्रियत इति। न ह्येतत्सम्भवति, जीवति देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति। अथ विनश्यति, कथं तर्ह्यविनश्वरं तद्वस्तु स्वहेतोर्जातम्? न हि म्रियते चामरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम्। तस्मादनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात्, दृष्टत्वाच्च नाशस्य, नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजायत इत्यङ्गीकुर्मः। तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति। तथा च क्षणक्षयित्वं सिद्धं भवति। प्रयोगः

होगा कि वह उस काल तक रहेगा और उसके बाद भी उसका वह स्वभाव रहेगा, इस प्रकार वह विनिष्ट ही न होगा। इसी तरह दो क्षण तक भी स्थायी मानने पर, जिस प्रकार उत्पत्ति के समय प्रथम क्षण में वह दो क्षण तक रहेगा उसी प्रकार फिर दूसरे क्षण में दो क्षण तक रहेगा; इसी प्रकार तृतीय क्षण में भी दो क्षण तक रहेगा। इस दो क्षण तक रहने वाले स्भाव के कारण वह विनिष्ट ही नहीं होगा। इन आपत्तियों से बचने के लिए यदि यह कहा जाय कि वह वस्तु अपने हेतु से स्थावर ही उत्पन्न होता है किन्तु बलशाली विरोधी मुद्गर आदि के प्रहार से विनष्ट किया जाता है, यह ठीक नहीं है। यह कैसे संगत हो सकता है कि स्थावर होने के कारण वह नष्ट तो नहीं होता किन्तु बलशाली विरोधी के द्वारा विनाश किया जाता है। यह कथन संभव नहीं है कि देवदत्त जीवित है किन्तु उसकी मृत्यु होती है। यदि वह विनिष्ट होता है तो अपने कारणों से अविनश्वर कैसे उत्पन्न हो सकता है? यह कथन संगत नहीं हो सकता कि मरता है और अमरणशील भी है। यदि अनश्वर माना गया तो कदापि उसका नाश नहीं होगा और नाश होते हुए प्रत्यक्षत: दीख पड़ता है इसलिए यही मानना पड़ता है कि वह वस्तु अपने कारण से नश्वर

पुनरेवं कर्तव्यः—यद्यत् विनश्वरस्वरूपं तत्तदनन्तरानवस्थायि यथा अन्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम् । विनश्वररूपं च रूपादिकमुदयकाल इति स्वभावहेतुः । यदि क्षणक्षयिणो भावाः, कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं स्यात् ? उच्यते—निरन्तरसदृशापरापरोत्पादादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृशं क्षणान्तरमुदयते । तेनाकारेण वैलक्षण्यस्याभावाद्भावेन चाव्यवधानात् भेदेऽपि स एवायमित्यभेदाध्यवसायप्रत्ययः पृथग्जनानां प्रसूयते । अत्यन्तभिन्नेष्वपि च लूनपुनर्जातकुशकेशादिष्वपि दृष्ट एव स एवायमिति प्रत्ययः । तथेहापि किं न सम्भाव्यते ? तस्मात्सर्वं संस्कृतं क्षणिकमिति सिद्धमेवैतत् निर्विशेषणस्य स्वभावहेतोरयं प्रयोग इति ।।

ही उत्पन्न होती है । इसलिए उत्पन्न मात्र ही विनिष्ट हो जाता है और क्षण में क्षय हो जाना सिद्ध हो जाता है ।

प्रयोग इस प्रकार से किया जाना चाहिए:—जो जो विनश्वर स्वरूप वाला है वह बाद में स्थायी नहीं रहता है जैसे अन्तिम क्षण में विद्यमान घट का स्वरूप । विनश्वर रूप तो रूप आदि अपने उदय काल में ही है यहाँ स्वभाव ही कारण है । अब यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि भाव वस्तुएँ क्षणिक हैं तब यह वही वस्तु है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि निरन्तर समान दूसरा-दूसरा उत्पन्न होने के कारण तथा अविद्या के प्रभाव के कारण पूर्वक्षण के विनाश काल में ही उसके सदृश दूसरे क्षण की उत्पत्ति हो जाती है । इस तरह आकार में विलक्षणता न होने के कारण और भाव में व्यवधान न रहने से भेद होने पर भी सामान्य जन को 'यह वही है' इस प्रकार का अभेद निश्चय वाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में, जैसे काट लेने के पश्चात् पुनः उत्पन्न कुश और केश आदि में भी 'यह वही है' इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है । तब वह यहाँ भी

तथाऽपरोऽपि निर्विशेषणप्रयोगः—यत्सत् तत्सर्वमनित्यं, यथा घटः। सन्तश्चामी प्रमाणप्रतीताः। तथाऽपरोऽपि वेदस्य पौरुषेयत्व-साधनाय स्वभावहेतुः। यद्वाक्यं तत्पौरुषेयं, यथा रथ्यापुरुषवाक्यम्। वाक्यं चेदं "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति॥

सविशेषणप्रयोगो यथा—यद्यदुत्पत्तिमत् तत्सर्वमनित्यं, यथा घटः। उत्पत्तिमांश्च शब्दः। अनुत्पन्नेभ्यो व्यावृत्तो भाव उत्पन्न उच्यते। यदा सैव व्यावृत्तिर्व्यावृत्त्यन्तरव्यवच्छेदेन व्यतिरिक्तोच्यते भावस्योत्पत्तिरिति तदा कल्पितेन भेदेन स्वभावभूतधर्मेण विशिष्टः स्वभावो हेतुः। तथा भिन्नविशेषणस्य प्रयोगः—यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्दः। ननु चित्रगुरिति भिन्नविशेषणस्य प्रयोगः, यथा

क्यों संभव नहीं है ? इसलिए 'सब संस्कृत क्षणिक है' यह सिद्ध हो जाता है। यह विशेषण रहित स्वभाव हेतु का प्रयोग है।

इसी प्रकार और भी निर्विशेषण का प्रयोग है:—जैसे जो कुछ सत् है वह सब अनित्य है जैसे घट। ये प्रमाण से प्रतीत होने वाले सभी सत् हैं। इसी प्रकार वेद की पौरुषेयता सिद्ध करने के लिए दूसरा स्वभाव हेतु है: जैसे—जो वाक्य है वह पौरुषेय है, जैसे मार्ग में चलते व्यक्ति के वाक्य। 'स्वर्ग चाहने वाला अग्नि-होत्र यज्ञ करे' भी वाक्य ही है।

सविशेषण प्रयोग जैसे:—जो जो उत्पत्तिमान् है वह सब अनित्य है, जैसे घट शब्द उत्पत्तिमान् है। अनुत्पन्न से व्यावृत्त भाव उत्पन्न कहे जाते हैं। यदि वही व्यावृत्ति अन्य व्यावृत्ति के व्यवच्छेद के द्वारा भाव की व्यतिरिक्त उत्पत्ति कही जाती है तब तो कल्पित भेद के द्वारा स्वभावभूत धर्म से विशिष्ट स्वभाव को हेतु कहा जाएगा। उसी प्रकार भिन्न विशेषण का प्रयोग—जो कृतक (जन्य) है वह अनित्य है जैसे घट। शब्द कृतक (जन्य) है। यहाँ आशंका की जाती है कि जैसे चित्रगु (जिस व्यक्ति को चित्र रंग की गाय हो) में भिन्न विशेषण

चात्र चित्रगोशब्दे भिन्नविशेषणवाचकोऽस्ति न तथा कृतकशब्दे भिन्नविशेषणवाचकं किमप्यस्ति। तत्कथं भिन्नविशेषणस्योदाहरणमिति-चेदुच्यते—अपेक्षितपरव्यापारो हि स्वभावनिष्पत्तौ भावः कृतक इत्युच्यते । ततः कृतकशब्दः परव्यापारसापेक्षं स्वभावं प्रकृत्यैव वदन् भिन्नविशेषणमेवाह ॥

प्रयुक्तभिन्नविशेषणस्य स्वभावस्य प्रयोगः—यः प्रत्ययभेदभेदी स कृतकः, यथा धूमः, प्रत्ययभेदभेदी च शब्दः। प्रत्ययः कारणं, तस्य भेदस्तेन भेत्तुं शीलं यस्य स प्रत्ययभेदभेदी। कारणमहत्त्वेन महत्त्वं कारणाल्पत्वेनाल्पत्वं यस्येत्यर्थः। प्रत्ययभेदभेदिशब्दस्य भिन्नविशेषण-वाचकस्यात्र प्रयुक्तत्वात् प्रयुक्तभिन्नविशेषणोऽयम् । स्वभावहेतोः

का प्रयोग है। यहाँ पर चित्र गो में भिन्न विशेषण वाचक है। उस प्रकार कृतक शब्द में भिन्न विशेषण का वाचक कुछ भी नहीं है। तब इसको भिन्न विशेषण का उदाहरण कैसे माना गया है ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि अपने स्वभाव की निष्पत्ति में अन्य के व्यापार की अपेक्षा रखने वाले भाव को कृतक कहा जाता है। इसी से कृतक शब्द अन्य के व्यापार के सापेक्ष स्वभाव को प्रकृति से ही बतलाता हुआ भिन्न विशेषण ही है। (अतः उसे भिन्न विशेषण कहा गया है)।

प्रयुक्त-भिन्न विशेषण वाले स्वभाव का प्रयोग जो प्रत्ययभेदभेदी है वह कृतक है, जैसे धूम प्रत्ययभेदभेदी शब्द है। प्रत्यय का अर्थ है कारण, उसका भेद हुआ प्रत्ययभेद। इस कारण भेद से भिन्न होना जिसका स्वभाव हो वह प्रत्ययभेदभेदी कहा जाएगा। इसका अर्थ यह है कि कारण की महत्ता से जिसमें महत्ता हो और कारण की अल्पता से जिसमें अल्पता हो। प्रत्ययभेदभेदी शब्द में भिन्न विशेषण वाचक के प्रयोग होने से यह प्रयुक्त भिन्न विशेषण कहा गया है। स्वभाव हेतु के अनेक भेद का प्रदर्शन व्यामोह की निवृत्ति के लिए किया

नानाप्रभेददर्शनं च व्यामोहनिवृत्तये धर्मभेदकल्पनयापि स्वभावहेतु-रेव प्रयुज्यत इति प्रतिपादयितुम् ।

स्वभावहेतोर्वैधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम्

स्वभावहेतोर्वैधर्म्यवान् प्रयोगो यथा—यद्यदाऽनन्तरानवस्थायि न भवति न तत्तदा विनश्वररूपं, यथाऽऽकाशम् । विनश्वररूपं च रूपादिकमुदयकाले । व्यतिरेकप्रयोगे साधनाभावेन साध्याभावस्य व्याप्तत्वात् साध्याभावः साधनाभावे नियतो भवतीति बोद्धव्यम् । तथाऽपरोऽपि वैधर्म्यवान् प्रयोगः—यत्र क्षणिकत्वं नास्ति तत्र सत्त्व-मपि नास्ति, यथा गगनारविन्दे । संश्च शब्द । तथा यत्रानित्यत्वं निवृत्तं तत्रोत्पत्तिमत्त्वमपि, यथा कूर्मरोम्णि । उत्पत्तिमांश्च शब्दः । यत्रानित्यत्वं निवृत्तं तत्र कृतकत्वमपि, यथा शशशृङ्गे । कृतकश्च शब्दः । यत्र कृतकत्वं नास्ति तत्र प्रत्ययभेदभेदित्वमपि नास्ति, यथा गगने । प्रत्ययभेदभेदी च शब्द इति ॥

जाता है । इससे यह भी प्रतिपादित किया जाता है कि धर्मभेद की कल्पना से भी स्वभाव हेतु का ही प्रयोग होता है ।

स्वभाव हेतु के वैधर्म्यवत् प्रयोग का निरूपण

स्वभाव हेतु के वैधर्म्यवत् का प्रयोग जैसे :—जो जब अनन्तर (बाद में) अनवस्थायी नहीं होता वह तब विनश्वर रूप वाला नहीं होता है जैसे आकाश । रूप आदि अपने उदयकाल में विनश्वर-रूप वाले होते हैं । व्यतिरेक प्रयोग में साधन के अभाव से साध्य का अभाव व्याप्त होता है अतः साधन के अभाव में साध्य का अभाव नियमतः रहता है यह समझना चाहिए । इसी प्रकार वैधर्म्य-वान् का दूसरा भी प्रयोग होता है :—जहाँ क्षणिकत्व नहीं है वहाँ सत्त्व भी नहीं है जैसे आकाश-कमल । शब्द सत्व वाला है । और भी—जहाँ अनित्यत्व निवृत्त होता है वहाँ उत्पत्तिमत्व भी (निवृत्त होता है) जैसे कछुए के बाल । शब्द उत्पत्तिमान् है । जहाँ से अनित्यत्व की निवृति हो जाती है वहाँ से कृतकत्व की भी (निवृत्ति हो जाती है) जैसे खरगोश के सींग । शब्द कृतक है । जहाँ पर कृतकत्व नहीं होता वहाँ प्रत्ययभेदभेदित्व भी नहीं होता, जैसे आकाश में शब्द प्रत्ययभेद-भेदी है ।

कार्यहेतोः साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्प्रयोगनिरुपणम् :

कार्यहेतोः साधर्म्यवान् प्रयोगो यथा—यत्र-यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निः, यथा महान्से, धूमश्चात्र। कार्यहेतुरपि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सिद्ध एव कार्यकारणभावे सति कारणे साध्ये प्रयोक्तव्यः। वैधर्म्यप्रयोगो यथा असत्यग्नौ न भवत्येव धूमः यथा—महाह्लदे। अस्ति चेह धूम इति।

अनुपलब्धेस्साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम्

अनुपलब्धेः साधर्म्यवान् प्रयोगोऽवयविनिराकरणाय यथा—यद्यत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्रासद्व्यवहारयोग्यम्, यथा नरशिरसि शृङ्गम्। नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तः पराभिमतोऽवयवी घटशब्दवाच्येषु कपालेषु। अनुपलब्धेर्वैधर्म्यवान् प्रयोगो यथा—यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव, यथा नीलादि-

---

कार्य और अनुपलब्धि हेतु के साधर्म्यवत् प्रयोग का निरूपण

कार्य हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग—जैसे जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, जैसे पाकशाला, यहाँ भी धूम है। कार्य हेतु भी प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा सिद्ध होने पर ही कार्य कारणभाव रहने पर कारण को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है। वैधर्म्य का प्रयोग जैसे:—अग्नि के न रहने पर धूम नहीं रहता, जैसे विशाल तालाव में। धूम यहाँ है। अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग अवयवी के निराकरण के लिए जैसे जो जहाँ उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी उपलब्ध नहीं होता वहाँ वह असत् व्यवहार योग्य है जैसे मनुष्य के शिर पर सींग। घट शब्द से कहे जाने वाले कपालों (घट के खण्डों) में उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी दूसरे के मत में सिद्ध अवयवी की उपलब्धि नहीं होती है। अनुपलब्धि का वैधर्म्यवान् प्रयोग जैसे—जो सत् उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता वह उपलब्ध होता ही है जैसे नील आदि रंग विशेष।

विशेषः । नेह उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येति । सर्वत्र साधर्म्यवति साधनवाक्ये [साध्येन] साधनं व्याप्तम् । वैधर्म्यवति [पुनः] साधनवाक्ये साधनाभावेन साध्याभावो व्याप्त इति प्रतिपत्तव्यम । साधनस्य च साध्ये नियतत्वकथनं साध्याभावस्य साधनाभावे नियतत्वकथनं नाम व्याप्तिरभिधीयते । ततः प्रमाणेन व्याप्तिसिद्धौ सत्यां नेदं क्वापि शङ्कनीयं साधनं च स्यात्, साध्यं च तत्र धर्मिणि न स्यादिति ।

पराङ्गीकृतेश्वरसाधकानुमानस्य निरसनम्

यत्र प्रमाणेन सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेव न सिद्धा, तत्र शङ्काप्रसरोऽनिवार्यः । यथेश्वर सिद्धौ कार्यत्वानुमाने । तथा हि तेषां साधनोपन्यासः । इहान्यः सर्वज्ञो भगवान् भवतु वा मा भूत्, ईश्वरः पुनस्सर्वज्ञः शक्यते साधयितुम् । तथा हि, लोके त्रयः

यहाँ उपलब्धि लक्षण प्राप्त सत् घट की उपलब्धि नहीं होती है । सभी जगह साधर्म्य वाले साधन वाक्य में (साध्य से) साधन व्याप्त होता है । वैधर्म्य वाले (फिर) साधन वाक्य में साधन के अभाव से साध्य का अभाव व्याप्त होता है यह समझ लेना चाहिए । साधन का साध्य में नियतत्व कहा जाना और साध्य के अभाव का साधन के अभाव में नियतत्व कहलाना ही व्याप्ति कहा जाता है । इस तरह प्रमाण से व्याप्ति के सिद्ध हो जाने पर यह आशंका कहीं भी नहीं हो सकती कि किसी धर्मी में हेतु हो और साध्य न हो ।

परमत स्वीकृत ईश्वर साधक अनुमान का खण्डन

जहाँ प्रमाण से सब उपसंहार वाली व्याप्ति ही सिद्ध नहीं हुई वहाँ शंका का होना अनिवार्य है; जैसे ईश्वर की सिद्ध कार्यत्व हेतु से अनुमान करने पर । यहाँ दूसरा कोई सर्वज्ञ भगवान् हो या न हो फिर भी सर्वज्ञ ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं । देखा जाता है कि लोक में तीन प्रकार के भाव हैं । कुछ के कर्त्ता निश्चित हैं, जैसे घट आदि । कुछ के निश्चित रूप से कर्त्ता नहीं हैं जैसे आकाश

खलु भावाः केचिन्निश्चितकर्तृकाः, यथा घटादयः। केचिन्निश्चितकर्तृ-निवृत्तयः, यथा व्योमादयः। अन्ये पुनः सन्दिग्धकर्तृकाः, यथा क्षित्यादयः। न पुनरेतेभ्योऽन्यः प्रकारोऽस्ति। तत्र ये दृश्यमानोत्पत्तयो वनस्पत्यादयो ये च चिरोत्पन्ना विश्वम्भरादयः ते सर्वे-सन्दिग्धकर्तृत्वेन व्यवतिष्ठमाना बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात्, घटादिवत्। नायमसिद्धो हेतुः, कार्यत्वस्य सर्वेषां प्रमाणसिद्धत्वात्। नापि विरुद्धः, सपक्षे भावात्। न चानैकान्तः, साध्यविपर्यये बाधक-प्रमाणसद्भावात्। तथाहि—कार्यं तावत् बुद्धिमतः कुम्भकारादुपजायमानं भूयोदर्शनसहायेन मानसप्रत्यक्षेणोपलब्धम्। तद्यदि बुद्धिमन्तरेणापि स्यात् तदानीं बुद्धिमतः सकाशात्कदाचिदपि नोपजायेत। कारणाभावे कार्यस्य सकृदप्युत्पादायोगात्। तस्मान्नेदं क्वापि शङ्कनीयं कार्यं च स्यात् न बुद्धिमद्धेतुकमिति। अत्रेदमभिधीयते—साधनं खलु सर्वत्र साध्यसाधनयोः सर्वोपसंहारेण प्रमाणेन व्याप्तौ

आदि। और अन्य वे हैं जिनके कर्त्ता के विषय में सन्देह है जैसे पृथ्वी आदि। इन प्रकारों से अन्य कोई प्रकार नहीं होता। इनमें जो दृश्यमान उत्पत्ति वाले वनस्पति आदि हैं और जो चिर काल के उत्पन्न पृथ्वी आदि हैं वे सन्दिग्ध कर्त्ता वाले हैं, अतः वे सभी बुद्धिमान् कर्त्ता से उत्पन्न हैं क्योंकि कार्य हैं जैसे घट आदि। यह हेतु असिद्ध नहीं है, सबके लिये कार्यत्व हेतु प्रमाणों से सिद्ध है। यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि यह सपक्ष में रहता है। यह अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि साध्य के अभाव में इसके बाधक प्रमाण का सद्भाव है। तब कार्य बुद्धिमान् कुम्भकार आदि से उत्पन्न होता हुआ पुनः-पुनः दृष्टि की सहायता से मानस प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होता है। वह यदि बुद्धि के बिना भी हो तो बुद्धिमान् से कभी भी उत्पन्न नहीं होगा। क्योंकि कारण के अभाव होने पर एक बार भी कार्य की उत्पत्ति का अवसर नहीं रहता। इसलिये यह आशंका कहीं नहीं की जा सकती है कि कार्य हो और बुद्धिमत् हेतु न हो। यहाँ यह भी कहा जाता है कि साधन सर्वत्र साध्य और साधक के सब उपसंहार वाले प्रमाण से व्यप्ति के सिद्ध होने पर ही साध्य का साधक होता है। यह सब वादियों

सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसम्मतम्। तत्र यदि दृश्यशरीर-विशिष्टेन बुद्धिमता व्याप्तिर्गृह्यते तदा तथाभूतसाध्यमन्तरेणापि जायमाने तृणादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिकोऽयं हेतुः। तृणादयः पक्षीकृता इत्यपि न वक्तव्यम्। न हि व्यभिचारविषय एव पक्षो भवितुमर्हति 'सन्दिग्धे हेतुवचनात् व्यक्तो हेतोरनाश्रय' इति न्यायात्। अथाशक्यारोहणेऽपि पर्वते दहनमन्तरेण च धूमदर्शनात्, एवं धूमेऽपि व्यभिचारो वक्तुं सुलभ एव। तन्न। अशक्यारोहणत्वेन पर्वते दहनस्य द्रष्टुमशक्यत्वात् युक्तं तत्र सन्दिग्धविषयत्वम्। प्रस्तुते तु दृश्यशरीरविशिष्टेन बुद्धिमता व्याप्तौ गृह्यमाणायां दृश्यानुपलम्भेन बुद्धिमतो बाधो भवतीति युक्तम्। अथ दृश्यशरीरेण बुद्धिमन्मात्रेण वा व्याप्तिरवगम्यते तदा अदृश्यस्य बुद्धिमन्मात्रस्य वा साध्यस्य दृश्यानुपलम्भेन व्यतिरेकासिद्धेः

को मान्य है। ऐसी स्थिति में यदि दीख पड़ने वाले शरीर से युक्त बुद्धिमान् के साथ व्याप्ति का ग्रहण होता है और उस प्रकार के साध्य के न रहने पर भी उत्पन्न तृण आदि में कार्यत्व दीख पड़ता है तो यही कहना होगा कि प्रमेयत्व आदि के समान यह हेतु साधारण अनैकान्तिक है। तृण आदि पक्ष माने गये हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यभिचार के विषय को ही पक्ष नहीं बनाया जा सकता। सन्देह रहने पर हेतु का निर्देश होता है किन्तु (व्यभिचार विषय में) हेतु का अनाश्रय व्यक्त रहता है यह न्याय है। जैसे ऐसे पर्वत पर, जिस पर चढ़ना सम्भव न हो, अग्नि के बिना धूम दीख पड़ता हो तो ऐसे धूम के विषय में भी व्यभिचार कहना सुलभ ही होगा। यह आशंका ठीक नहीं है। क्योंकि पर्वत पर चढ़ना सम्भव न होने के कारण पर्वत में अग्नि होने पर भी उसका दीख पड़ना संभव नहीं है इसलिये वहाँ अग्नि का सन्देह हो जाना उचित ही है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में दृश्य शरीर से युक्त बुद्धिमान् तथा व्याप्ति के ग्रहण होने पर दृश्य के उपलब्ध न होने पर बुद्धिमान् का बोध हो जाता है। यह बिल्कुल युक्त है। और यदि दृश्य शरीर अथवा बुद्धिमान् मात्र के साथ व्याप्ति का ग्रहण माना जाता है तो अदृश्य अथवा बुद्धिमान् मात्र साध्य के

सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽयं हेतुः । साध्याभावप्रयुक्तस्य साधनाभावस्या [काशादाव] सिद्धत्वेन व्याप्तेरभावात् । तथा चोक्तम् [ज्ञानश्रीमित्रपादैः]

कार्यत्वस्य विपक्षवृत्तिहतये सम्भाव्यतेऽतीन्द्रियः
कर्ता चेद्व्यतिरेकसिद्धिविधुरा व्याप्तिः कथं सिध्यति ।
दृश्योऽथ व्यतिरेकसिद्धिमनसा कर्ता समाश्रीयते
तद्योगेन विना तृणादिकमिति व्यक्तं विपक्षेक्षणम् ॥

त्रिलोचनाभ्युपगतस्य वह्निधूमयोः स्वाभाविकसम्बन्धवादस्य निरसनम्:

यच्च त्रिलोचनेनोक्तम्—"यथा स्वाभाविकः सम्बन्धो धूमादीनां वह्न्यादिभिस्सह तथा कार्यत्वस्य बुद्धिमता सार्धम्, तदुपाधेरनुपल-

---

दृश्यानुपलब्धि से व्यतिरेक असिद्ध होने के कारण यह हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक (जिसका विपक्ष में न रहना संदेहास्पद) हो जाता है । (आकाश आदि में) साध्याभाव से प्रयुक्त साधन के अभाव के असिद्ध होने से व्याप्ति का अभाव हो जाता है । (ज्ञानश्रीमित्रपाद ने भी) यही कहा है कि:

कार्यत्व हेतु में से विपक्ष वृत्तिता हटाने के लिए कर्त्ता को यदि अतीन्द्रिय मान लिया जाय तो व्यतिरेक की सिद्धि के विना व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी ? और यदि व्यतिरेक सिद्ध मान कर कर्त्ता को दृश्य माना जाता है तो उस दृश्य कर्त्ता के सम्बन्ध के न रहने से तृण आदि को विपक्ष माना जाना स्पष्ट ही है ।

त्रिलोचन द्वारा अभ्युपगत अग्नि और धूम के स्वाभाविक सम्बन्धवाद का खण्डन

जो त्रिलोचन ने कहा है कि जैसे धूम आदि का अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है उसी प्रकार कार्यत्व हेतु का बुद्धिमान् कर्ता के साथ (स्वाभाविक सम्बन्ध) है क्योंकि उसमें उपाधि की उपलब्धि नहीं होती और

भ्यमानत्वात्, क्वचिद्व्यभिचारस्यादर्शनात्" इति। तन्न युक्तम्। यतोऽर्थान्तरं किञ्चिदपेक्षणीयमुपाधिशब्देनाभिधीयते। न चार्थान्तरमवश्यं दृश्य स्यात्। अदृश्यमपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टं सम्भाव्यते। अतो धूमस्य दहनेन सह सम्बन्धे भविष्यत्युपाधिः। न चोपलभ्यत इति कथमदर्शनमात्रेण नास्त्येवेत्युच्यते। यदप्युक्तं व्यभिचारस्यादर्शनादिति साधनं, तदपि सन्दिग्धासिद्धम्। प्रत्ययान्तरवैकल्येनाहत्य व्यभिचारस्यादर्शनेऽपि सर्वत्र निषेद्धुमशक्यत्वात्। न चैतावता प्रामाणिकलोकयात्रातिक्रमः। प्रामाणिकैरेव साधकबाधकप्रमाणाभावे संशयस्य विहितत्वात्। नचैवं संशयेन सर्वत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गः, प्रमाणादर्थ सन्देहाच्च प्रवृत्तेरुपपत्तेः। यदप्युक्तं—"यथाऽन्यत्वाविशेषेऽपि बौद्धानां किञ्चिदेव वस्तु कार्यं स्यात्, किञ्चिदेव कारणं, न सर्वं, तथा ममाप्यन्यत्वाविशेषेऽपि किञ्चिदेव धूमादिकं

कहीं व्यभिचार नहीं देखा जाता है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि कुछ अपेक्षणीय अर्थान्तर उपाधि शब्द से कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं कि वह अर्थान्तर अवश्यमेव दृश्य ही हो। देश, काल और स्वभाव से दूर होने के कारण अदृश्य की भी सम्भावना हो सकती है। इसलिए अग्नि के साथ धूम के सम्बन्ध में भी उपाधि हो सकेगी। वह उपलब्धि नहीं होता है फिर कैसे अदर्शन मात्र से 'नहीं ही है' यह कहा जाता है? जो कहा गया है कि व्यभिचार नहीं देखा जाता है, यह हेतु है और वह भी संदिग्ध-असिद्ध। अन्य प्रत्यय के अभाव से हटाकर व्यभिचार के दिखलाई पड़ने पर भी (उसका) सभी जगह निषेध नहीं किया जा सकता। इस पर यह आशंका कि इससे प्रामाणिक लोक-यात्रा का अतिक्रमण होता है, ठीक नहीं है क्योंकि प्रामाणिकता के अभाव में संशय होता है। यहाँ यह आशंका नहीं की जानी चाहिए कि संशय से सभी जगह अप्रवृति की आपत्ति आने लगी क्योंकि प्रमाण तथा अर्थ सन्देह दोनों से ही प्रवृति मानी जाती है। जो यह कहा गया है कि जैसे अन्यत्व के अविशेष होने पर भी बौद्ध मत में कुछ ही वस्तु कार्य होता है और कुछ ही वस्तु कारण, सब कुछ कार्य या कारण नहीं होता, उसी प्रकार मेरे मत में भी अन्यत्व के अविशेष होने पर भी कुछ ही

वस्तु स्वाभाविकसम्बन्धेन सम्बद्धं न सर्वम्" इति। तन्न युक्तम्। यथा धूमाख्यं वस्तु दहनायत्तमिति प्रमाणासिद्धं तथा किं स्वाभाविकसम्बन्धोऽपि प्रमाणसिद्धः, येनैवमुच्यते। किञ्च स्वाभाविकसम्बन्ध इति कोऽर्थः? किं स्वतो भूतः, स्वहेतोर्वा भूतः, अहेतुको वा इति त्रयो विकल्पाः। तत्र न तावदाद्यः पक्षः, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। नापि द्वितीयः, तदुत्पत्तिसम्बन्धस्वीकारप्रसङ्गात्। अथाहेतुकः, तदा देशकालस्वभावनियमाभावादतीवासङ्गः स्वभाविकसम्बन्धवादः। किञ्च साधर्म्येण वैधर्म्येण वा दृष्टान्तमात्रमस्तीति व्याप्तिसिद्धिः। यदृच्छया मिलितयोरपि करभगदभयोस्तथाभावप्रसङ्गात्। तस्मान्निदर्शनं नाम [दृष्टान्त उच्यते। स च] गृहीतविस्मृतप्रतिबन्धसाधकप्रमाणस्मरणद्वारेणैव हेतावुपयुज्यते, न स्वस-

---

धूम आदि वस्तु स्वाभाविक सम्वन्ध से सम्बन्धित हैं सभी नहीं, वह ठीक नहीं है। जैसे धूम नामक वस्तु अग्नि के आधीन है यह प्रमाण सिद्ध है उसी प्रकार क्या स्वाभाविक सम्वन्ध भी प्रमाण सिद्ध है जिसके कारण ऐसा कहा जाता है। और भी 'स्वाभाविक सम्वन्ध', इसका क्या अर्थ है? क्या यह स्वयं हुआ है? क्या यह अपने हेतु से हुआ है? क्या यह अहेतुक हुआ है? ये तीन विकल्प किये जाते हैं। इसमें प्रथम विकल्प इसलिए ठीक नहीं है कि इसमें अपने आप में क्रिया मान लेने से विरोध हो जाता है। तृतीय विकल्प इसलिये मान्य नहीं है कि इसमें इसकी उत्पत्ति सम्वन्ध स्वीकार करने की आपत्ति है। और तृतीय विकल्प मानकर इसे अहेतुक माना गया तो देश, काल एवं स्वभाव के नियम के न रहने के कारण यह स्वाभाविक सम्वन्ध मानने वाला मत अत्यन्त ही असंगत हो जाता है। और भी साधर्म्य के साथ अथवा वैधर्म्य के साथ दृष्टान्त मात्र रहता है इसलिए व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है (यदि यह माना जाय तो) स्वेच्छा से मिले हुए हाथी और गदहे में भी तथाभाव (व्याप्ति सम्वन्ध) की आपत्ति हो सकती है। इसलिए निदर्शन को ही दृष्टान्त कहा जाता है वह गृहीत होकर

न्निधिमात्रेण। तथाहि—न तावदाकाशे साध्याभावेन साधनाभावः प्रतीयते। आकाशे हि यथा बुद्धिमत्कारणनिवृत्तिस्तथा अचेतनस्यापि कारणस्य निवृत्तिर्नास्त्येव। तत्कस्याभावप्रयुक्तकार्यत्वाभावः प्रतीयतां, येन साध्याभावप्रयुक्तसाधनाभावव्यतिरेकः सिध्यतीति। नापि घटे कार्यत्वस्य बुद्धिमदन्वयदर्शनादाकाशेऽपि बुद्धिमदभावादेव कार्यत्वाभावो वक्तुं युज्यते, यस्मादनयोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिरन्यो वा स्वाभाविकादिसम्बन्धः पूर्वप्रमाणेन न प्रसाधितः स्यादित्युक्तम्॥

किञ्चादर्शनमात्रेण व्यतिरेको न सिध्यति। तथा हि, विपक्षे हेतुर्नोपलभ्यत इत्यनेन तदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तिरुच्यते। प्रमाणं च प्रमेयस्य कार्यम्, 'नाकारणं विषय' इति न्यायात्। न च कार्यनिवृत्तौ कारणनिवृत्तिर्युज्यते, निर्धूमस्यापि वह्नेर्भानात्। यदि पुनः प्रमाणसत्तया प्रमेयसत्ता व्याप्ता स्यात् तदा युक्तमेवैतत्। केवलमियमेव

विस्मृत हुए प्रतिबन्ध साधक प्रमाण के स्मरण द्वारा ही हेतु में उपयोगी होता है अपनी सन्निधि मात्र से नहीं। जैसे आकाश में साध्याभाव से साधनाभाव की प्रतीति नहीं होती है। आकाश में जैसे बुद्धिमान् कारण की निवृत्ति है उसी प्रकार अचेतन कारण की निवृत्ति नहीं ही है। तब किसके अभाव से प्रयुक्त कार्यत्वाभाव की प्रतीति होगी जिससे साध्याभाव में प्रयुक्त साधनाभाव रूप व्यतिरेक सिद्ध होगा। घट में कार्यत्व हेतु का बुद्धिमान् कारण के साथ अन्वय दीख जाने से आकाश में भी बुद्धिमान् कारण के अभाव से ही कार्यत्वाभाव मान लेना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि इन दोनों (बुद्धिमान् तथा कार्यत्व) का तादात्म्य, तदुत्पत्ति अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध पूर्व में प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता—यह कहा जा चुका है।

और भी, अदर्शन मात्र से व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता। जैसे कि विपक्ष में हेतु उपलब्ध नहीं होता है इससे उसको प्राप्त कराने वाले प्रमाण की निवृत्ति कही जाती है। प्रमाण प्रमेय का कार्य होता है। कोई विषय अकारण नहीं होता यह न्याय है। कार्य की निवृत्ति होने पर कारण की निवृत्ति मानना न्यायसंगत

व्याप्तिरसम्भाविनी, सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । तस्मान्नादर्शन-मात्रेण व्यतिरेकः सिध्यति । यथोक्तम्—

"सर्वाऽदृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वाऽदृष्टिर्व्यभिचारिणी ।
भूजलान्तर्गतस्यापि बीजस्यासत्त्वदर्शनात् ।।" इति

यदपि वाचस्पतिराह—"विशेषस्मृत्यपेक्ष एव संशयो भवति ततो यथादर्शनमेव शङ्कितुमुचितम्" इति । अत्रोच्यते—नायं न्यायः सार्वत्रिकः । तथा चाभ्युपगम्यापि ब्रूमः । तथा हि—[कार्यत्वधूमत्वयोः] तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्ध वियोगित्वेन साधारणेन धर्मेण प्रमेयत्वधूमत्वकार्यत्वादीनां तन्मतेनापि सजातीयत्वम् । तत्र प्रमेयत्वस्य व्यभिचारदर्शनमेवान्यत्रापि शङ्कामुपस्थापयतीति यथादर्शनमेवेदमाशङ्कितम् । अतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं नाम हेतुदूषणं दुर्वारमेव ।

नहीं है क्योंकि धूमरहित स्थान पर भी अग्नि का भाव होता है । यदि फिर प्रमाण सत्ता से प्रमेय सत्ता व्याप्त हो तब तो यह उचित ही है । (किन्तु) केवल यही व्याप्ति असंभव है क्योंकि (इसको मानने पर) सब को सर्वदर्शी होने की आपत्ति हो जाती है । इसलिए अदर्शन मात्र से व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता । जैसे कहा गया है :—

सब अदृष्टि संदेहास्पद होती है । अपनी अदृष्टि में व्यभिचार दोष है । क्योंकि पृथ्वी एवं जल के अन्तर्गत विद्यमान बीज का भी असत्त्व दीख पड़ता है ।

जो वाचस्पति ने कहा है कि विशेष की स्मृति की अपेक्षा में ही संशय होता है इसलिए जैसा दर्शन है उसकी ही शंका करना उचित है । इसके संदर्भ में कहा जाता है कि यह न्याय सभी जगह लागू होने वाला नहीं है । इसको सभी जगह लागू होने वाला मानकर भी हम कहते हैं कि जैसे (कार्यत्व, धूमत्व आदि में) तादात्म्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध के वियोगत्व रूप साधारण धर्म से प्रमेयत्व, धूमत्व और कार्यत्व आदि में उनके मत में भी सजातीयता है; ऐसी स्थिति में प्रमेयत्व में व्यभिचार का दर्शन ही दूसरों में शंका उत्पन्न कर सकता है क्योंकि जैसा दर्शन है उससे ही यह आशंका हुई है । इसलिए संदिग्ध-विपक्ष व्यावृत्ति (जहाँ विपक्ष में हेतु का न रहना संदेहास्पद हो) नामक हेतु का

एतच्च सद्दूषणमेव। अतो यदनेनोक्तम्—'नायं हेतुदोषः, अतो न परिहर्तव्यः, तस्य चोपन्यासोऽदोषोद्भावनं नाम निग्रहस्थानम्' इति। तदिदानीं स्वमतेनैवानेन वादिना निरनुयोज्यानुयोगलक्षणेन निग्रहस्थानेनात्मा बाधित इत्युपेक्षणीयोऽयं देवानां प्रियः॥

ईश्वरसाधकानुमाने अनुपपत्तिः

ननु यदि दृश्याग्निधूमसामान्ययोरिव दृश्यात्मनोरेव कार्यकारणसामान्ययोः प्रत्यक्षानुपलम्भतो व्याप्तिस्तदा सन्तानान्तरानुमानं न स्यात्, परचित्तस्यादृश्यात्मकतया व्याप्तिग्रहणकालेऽनन्तर्भावादिति चेन्न। स्वसंवेदनं हि तत्र व्याप्तिग्राहकम्। स्वसंवेदनमात्रापेक्षया परचित्तस्यापि दृश्यत्वात्। न चैवं व्यावहारिकेन्द्रियप्रत्यक्षमात्रबुद्धिमन्मात्रं जठरचित्रसाधारणं वह्निमात्रं वा गोचरो युज्यते, येनस्यापि

दोष तो हटाया नहीं जा सकता। यह तो सत् दूषण ही है। इसलिए जो उसने यह कहा है कि यह हेतु का दोष नहीं इसलिए इसका परिहार नहीं करना चाहिए, उसका उपन्यास 'अदोषाद्भावन' (जहाँ दोष है वहाँ भी अदोष मानना) नामक निग्रह स्थान है। इस तरह इस स्थिति में वादी अपने इस मत के कारण निरनुयोज्यानुयोग रूप (अर्थात् जिसका अनुयोग नहीं होना चाहिए उसका अनुयोग) निग्रहस्थान से अपने आप को बाधित करता है अतः देवनां प्रिय (बौद्ध) के लिए यह उपेक्षणीय है।

ईश्वर-साधक अनुमान की अनुपपत्ति

अब यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि दृश्य अग्नि-सामान्य और धूम-सामान्य की तरह दृश्य ही कार्य सामान्य और कारण सामान्य में प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से व्याप्ति मानी जाएगी तो सन्तानान्तर (अन्य सन्तान) का अनुमान न होगा क्योंकि दूसरे के चित्त के अदृश्यात्मक होने के कारण व्याप्ति ग्रहण के समय में अन्तर्भाव न होगा, किन्तु यह ठीक नहीं है। वहाँ स्वसंवेदन ही व्याप्ति का ग्रहण करने वाला है। स्वसंवेदन मात्र की अपेक्षा में दूसरे का चित्त भी

दृश्यता स्यात् । तस्मात् दृश्येनैव वह्निना धूमस्य प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां व्याप्तिरिति न्यायः ॥

किञ्च यदि बुद्धिमन्मात्रपूर्वकत्वमनेन साध्यते, तदा सिद्धसाधनतादूषणं साधनस्य । अथ एको नित्यः सर्वज्ञ इत्यादिविशेषणविशिष्टबुद्धिमत्पूर्वकत्वं साध्यते, तदा एवं विशेषणविशिष्टेन साध्येन सह कार्यत्वस्य साधनस्य दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाणेन व्याप्तेरसिद्धेरनैकान्तिकत्वम् । अथ सामान्येन व्याप्तिमादाय विशेषस्य पक्षधर्मताबलात् सिद्धिरुच्यते ? तन्न युक्तम् । येन साध्यगतेन विशेषणेन विना हेतोर्वृत्तिर्धर्मिणि न घटते, तस्य विशेषस्य पक्षधर्मबलाद्युक्ता सिद्धिः । यथा धूमात् पर्वतदेशवृत्तित्वस्य दहनधर्मस्य, न तु तार्णत्वादीनां

दृश्य होता है । इस प्रकार व्यवहारिक इन्द्रियप्रत्यक्ष मात्र, बुद्धिमान् मात्र या उदरस्थ, चित्ररूप साधारण अग्नि मात्र को इन्द्रिय का विषय मानना युक्तिसंगत नहीं है । जिससे इसकी भी दृश्यता हो । इससे यही सिद्ध हुआ कि दृश्य ही अग्नि के साथ धूम का प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा व्याप्ति ग्रहण होता है ।

और भी, यदि इससे बुद्धिमन्मात्रपूर्वकत्व (जिसके पूर्व में बुद्धिमान् मात्र रहता हो) को सिद्ध किया जाता है तो हेतु में सिद्ध साधनता दोष होगा और यदि एक, नित्य, सर्वज्ञ इत्यादि विशेषरा से युक्त बुद्धिमत् पूर्वकत्व सिद्ध किया जाता है तो इस प्रकार के विशेषण से युक्त साध्य के साथ कार्यत्व रूप हेतु का दृष्टान्त स्थान पर प्रमाण से व्याप्ति के असिद्ध होने के कारण अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष होगा । यदि यह कहा जाता हैं कि सामान्य के साथ व्याप्ति को लेकर पक्षधर्मता के बल से विशेष की सिद्धि होती है तो यह कथन ठीक नहीं है । साध्य में जिस विशेषण के दिये बिना पक्ष में हेतु की वृत्तिता संगत नहीं हो पाती है उसी विशेषण की सिद्धि पक्षधर्मता के कारण उचित मानी जाती है । जैसे धम से अग्नि के अनुमान में पर्वत देश में विद्यमान अग्नि का

विशेषाणाम्। तार्णतामन्तरेणापि पर्वते धूमदर्शनात्। तद्वत् बुद्धि-मतोऽपि शरीरादिवृत्तित्वं यदि सिध्यति, सिध्यतु। न पुनरत्यन्त-विलक्षणं सर्वज्ञत्वम्। असर्वज्ञत्वेऽपि कार्यत्वस्य सम्भवात्। उपादा-नाद्यभिज्ञत्वादपि न सवज्ञत्वसिद्धिः। एकत्वसिद्धौ सिध्येतत्। न चैकत्वं सिद्धम्। अनेककर्तृपूर्वकत्वेऽपि कार्यत्वस्य सम्भवात्। यथा-ऽनेककीटिकानिष्पादितः शक्रमूर्धा। अथ शक्रमूर्ध्नोऽपीश्वरपूर्वकत्वं साध्यं, तर्हि घटस्यापीश्वरपूर्वकत्वसिद्धौ कुतो दृष्टान्तत्वम्? अथ कुम्भकारस्य कर्तृत्वं दृष्टं कथमपाक्रियते? कीटकादीनां च हेतुत्वं दृष्टं तदपि कथं वार्यते? नापि बहूनां कारणत्वे विप्रतिपत्ति-सम्भावना, दृष्टत्वादेवेति। तस्मात् साध्यसाधनयोः सर्वोपसंहारवती

ही अनुमान होता है तृण आदि से सम्बन्धित अग्नि का नहीं। क्योंकि तृण आदि से सम्बन्धित अग्नि के बिना भी पर्वत में धूम दीख पड़ता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् की भी शरीर आदि के सम्बन्ध से सम्बन्धित होकर यदि सिद्धि होती है तो हो जाय। किन्तु अत्यन्त विलक्षण सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि कर्ता में असर्वज्ञत्व मानने पर भी कार्यत्व सम्भव हो सकता है। उपादान आदि की अभिज्ञता से भी सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती। एकत्व की सिद्धि होने पर यह सिद्ध हो सकता है। किन्तु एकत्व सिद्ध नहीं हो पाता। क्योंकि अनेक कर्ता के पूर्व में सम्बन्ध मान लेने पर भी कार्यत्व सम्भव हो सकता है। जैसे अनेक कीड़ों द्वारा वल्मीक का निर्माण हो जाता है। यदि वल्मीक को भी ईश्वरपूर्वक सिद्ध किया गया तो घट भी ईश्वरपूर्वक सिद्ध हो जाएगा तब वह दृष्टान्त कैसे होगा? यदि यह प्रश्न किया जाता है कि कुम्हार की कर्तृता देखी जाती है उसे हटाया कैसे जा सकता है? तो कीड़े आदि का कर्तृत्व देखा जाता है उसको क्यों हटाया जा रहा है? दृष्ट होने के कारण ही अनेक को कारण मानने पर भी विप्रतिपत्ति की सम्भावना नहीं होती। इसलिये यह निश्चित हुआ कि साध्य और साधन में सर्वोपसंहार वाली व्याप्ति दृष्टान्त धर्मी में

व्याप्तिर्दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाणेनावश्यं दर्शयितव्येति स्थितम्। किञ्च नित्यैकसर्वज्ञे बुद्धिमति साध्ये विरुद्धोऽप्येषः। अनित्यानेकासर्वज्ञेन बुद्धिमता व्याप्तत्वात् कार्यत्वस्य। तथा हि, साध्यविपर्ययसाधनादिह विरुद्ध उच्यते। अयं च साध्यविपरीतं साधयतीत्यास्तां तावत् प्रस्तावायातेश्वरदूषणोद्भावनानिबन्धकरणम्॥

साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगेषु त्रैरूप्यासिद्ध्याशङ्का तन्निरसनं च:

ननु साधर्म्यवति साधनवाक्ये अन्वय एवोक्तः न तु व्यतिरेकः। वैधर्म्यवति च व्यतिरेक एवोक्तः न त्वन्वयः। तत्कथमाभ्यां त्रिरूपं लिङ्गं कथ्यत इति चेत्, नैष दोषः। यस्मात् साधर्म्यवति च साधनवाक्ये उपन्यस्ते सामर्थ्यादेव व्यतिरेकोऽवगम्यते। व्यतिरेकागृहीतौ च साध्याभावेऽपि न साधनाभाव इति विपर्ययः सम्भावयितव्यः। एवं

प्रमाण के द्वारा अवश्य ही दिखलानी चाहिए। और भी नित्य, एक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान् कर्ता के साध्य होने पर यह हेतु विरुद्ध भी है। क्योंकि कार्यत्व हेतु अनित्य, अनेक, सर्वज्ञ बुद्धिमान कर्ता से व्याप्त है और साध्य के विपरीत सिद्ध करने के कारण यह विरुद्ध कहा जाता है। यह साध्य के विपरीत सिद्ध करता है तो यह प्रसंग में आए ईश्वर में दूषण उद्भावना करने के लिये रहे।

साधर्म्य तथा वैधर्म्य के प्रयोगों में त्रैरूप्य के असिद्धि की आशंका तथा उसका निवारण

अब यहाँ यह प्रश्न उठाया जाता है कि साधर्म्य वाले साधन वाक्य से अन्वय ही कहा जाता है व्यतिरेक नहीं और वैधर्म्य वाले साधन वाक्य में व्यतिरेक ही कहा जाता है अन्वय नहीं। तब इन दोनों को मिलाकर तीन रूप में लिंग का प्रतिपादन कैसे किया जाता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यह दोष नहीं है क्योंकि जब साधर्म्य वाले साधन वाक्य का उपन्यास होता है तो उसके सामर्थ्य से ही व्यतिरेक का ज्ञान हो जाता है। व्यतिरेक के ग्रहण न होने पर साध्य के अभाव के रहने पर भी साधन का अभाव नहीं रहता इस प्रकार के विपर्यय की

चान्वयस्यैवाभावः स्यात्। सत्यपि साधने साध्याभावादिति सामर्थ्यम्। तथा वैधर्म्यवति साधनवाक्ये उपन्यस्ते सामर्थ्यादेवान्वयोऽवगम्यते, अन्वयागृहीतौ हि साधनं च स्यात् साध्यं च न भवेदिति विपर्ययः सम्भावयितव्यः। एवं च व्यतिरेक एव न भवेत्। साध्याभावेऽपि साधनस्यभावादिति सामर्थ्यम्। तस्मात् द्वावपि प्रयोगौ त्रिरूपलिङ्गप्रकाशकावित्यदोषः ॥

व्याप्तिग्राहकप्रमाणनिरूपणम्

सम्प्रति साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः यत्र धर्मिणि ग्रहीतव्या, येन च प्रमाणेन, तदुभयं सुखावबोधार्थं कथ्यते—स्वभावहेतोः सत्त्वलक्षणस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिः साध्यधर्मिण्येव ग्रहीतव्येति केचित्। तेषामन्तर्व्याप्तिपक्षोऽभिमतः। प्रसङ्गप्रसङ्गविपर्ययाभ्यां दृष्टान्तधर्मिणि

सम्भावना हो सकती है। इस प्रकार अन्वय का ही अभाव हो जायेगा। अर्थात् साधन के रहने पर भी साध्य का अभाव होगा। इसी प्रकार वैधर्म्य वाले साधन वाक्य के उपन्यास होने पर सामर्थ्य से ही अन्वय का ज्ञान हो जाता है क्योंकि अन्वय के ग्रहण न होने पर इस प्रकार के विपर्यय की सम्भावना हो सकती है कि साधन हो और साध्य न हो। ऐसी स्थिति में व्यतिरेक ही न हो सकेगा। अर्थात् साध्य का अभाव रहने पर भी साधन का अस्तित्व होगा। इसलिए दोनों ही प्रयोग हेतु के तीनों रूपों के प्रकाशक हैं इसमें कोई दोष नहीं है।

व्याप्ति-ग्राहक-प्रमाण-निरूपण

अब यहाँ साध्य और साधन की व्याप्ति का ग्रहण जिस धर्मी में जिस प्रमाण के द्वारा होना चाहिए उन दोनों को सरलता से समझाने के लिए कहा जाता है। सत्त्व लक्षण वाले स्वभाव हेतु का क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति का ग्रहण साध्य धर्मी में ही होना चाहिये यह कुछ लोगों का मत है। उन लोगों को अन्तर्व्याप्ति का पक्ष भी मान्य है। प्रसङ्ग और प्रसङ्ग के विपर्यय के द्वारा दृष्टान्तधर्मी घट

घटादौ व्याप्तिर्ग्रहीतव्येत्यन्ये। तेषां बहिर्व्याप्तिपक्षोऽभिमतः। सत्त्वादन्येषां स्वभावहेतूनां कार्यहेतूनामनुपलम्भहेतूनां च दृष्टान्त एव व्याप्तिर्ग्रहीतव्या। तत्र शिंशपात्वस्य वृक्षत्वव्यवहारे साध्ये दृष्टान्ते प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां व्याप्तिर्ग्राह्या। सत्वक्षणिकत्वयोस्तु प्रसङ्ग-प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां प्रमाणाभ्यां, साध्यविपर्ययबाधकप्रमाणेन वा क्रमयौगपद्यनिवृत्तिलक्षणेन स्वसंवेदनसामर्थ्यसिद्धेर्विकल्पसिद्धेर्वा वस्तुत्वावस्तुत्वाभ्यां सन्दिह्यमाने विपक्षे धर्मिणि कार्यहेतोर्धूमा-देर्वह्न्यादिना महानसादौ दृष्टान्तधर्मिणि त्रिविधप्रत्यक्षानुपलम्भतः पञ्चविधप्रत्यक्षानुपलम्भतो वा व्याप्तिर्ग्रहीतव्या। अनुपलम्भस्य तु असद्व्यवहारयोग्यत्वेन सह व्याप्तिः प्रत्यक्षेणैव। अन्येषां तु स्वभाव-हेतूनां कार्यहेतूनां वा केषाञ्चित्, यथास्वभावं प्रमाणेनोन्नीय-ग्रहीतव्येति॥

आदि में व्याप्ति का ग्रहण होना चाहिए यह दूसरे लोग मानते हैं। उन लोगों को वहिर्व्याप्ति का पक्ष भी मान्य है। सत्त्व से अतिरिक्त स्वभाव-हेतुओं की, कार्य-हेतुओं की, तथा अनुपलम्भ हेतुओं की व्याप्ति का ग्रहण दृष्टान्त में ही होना चाहिये। इनमें वृक्षत्व व्यवहार के साध्य होने पर शिंशपात्व हेतु की व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा दृष्टान्त में ही होना चाहिए। सत्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्रहण प्रसङ्ग और प्रसङ्ग विपर्यय रूप प्रमाणों के द्वारा, अथवा साध्य के विपर्यय के बाधक के प्रमाण से, अथवा क्रम-यौगपद्य और विवृत्ति रूप से, अथवा स्वसंवेदन के सामर्थ्य से सिद्ध होने से या विकल्प के सिद्ध होने से, वस्तुत्व और अवस्तुत्व के द्वारा सन्देहयुक्त विपक्ष धर्मी में, कार्य हेतु धूम आदि का अग्नि आदि के साथ दृष्टान्त धर्मी में तीन प्रकार के प्रत्यक्ष तथा अनुप-लम्भ से अथवा पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से व्याप्ति का ग्रहण होना चाहिए। अनुपलम्भ का असद्व्यवहार योग्यत्व के साथ व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। अन्य सभी स्वभाव हेतुओं की अथवा कुछ कार्य हेतुओं की व्याप्ति का ग्रहण यथा स्वभाव प्रमाण के द्वारा ही होता है।

हेत्वाभासनिरूपणम्

व्याप्त्यनिश्चये हेतोरनैकान्तिको दोषः। स च त्रिविध—असाधारणानैकान्तिकः साधारणानैकान्तिकः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकश्चेति। तत्र असाधारणानैकान्तिको यथा—सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात् अपरजीवच्छरीरवत् घटवत्। अयं हेतुपरजीवच्छरीरे आत्मना व्याप्त इति न निश्चितः। घटे च विपक्षे आत्मनोऽभावान्निवृत्त इति न निश्चितः। धर्मिणि तु जीवच्छरीरे विद्यत इति असाधारणानैकान्तिक उच्यते। अपरश्चासाधारणो यथा—अनित्यश्शब्दः श्रावणत्वात्, घटवत्, आकाशवदिति। साधारणानैकान्तिको यथा—नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, घटवत् आकाशवत्। सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको यथा—सः श्यामस्तत्पुत्रत्वात्, परिदृश्यमानतत्पुत्रवदिति॥

हेत्वाभास निरूपण

व्याप्ति के निश्चय न रहने पर हेतु में अनैकान्तिक दोष होता है। वह तीन प्रकार का होता है:—असाधारण-अनैकान्तिक, साधारण-अनैकान्तिक और सन्दिग्ध विपक्ष-व्यावृत्तिक। इनमें असाधारण अनैकान्तिक जैसे:—यह जीवित शरीर आत्मा युक्त है प्राण आदि से युक्त होने के कारण, दूसरे जीवित शरीर के समान, और घट के समान। यह हेतु दूसरे जीवित शरीर में आत्मा से व्याप्त है यह निश्चित नहीं है। विपक्ष रूप घट में आत्मा के अभाव होने से यह निवृत्त है यह भी निश्चित नहीं है। वर्तमान पक्ष जीवित शरीर में विद्यमान है इसलिये इसे असाधारण-अनैकान्तिक कहा जाता है। दूसरा भी असाधारण का उदाहरण है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उसका श्रावण प्रत्यक्ष होता है घट के समान, आकाश के समान। साधारण अनैकान्तिक जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रमेय है घट के समान और आकाश के समान। सन्दिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक जैसे—वह श्याम है क्योंकि उसका पुत्र है, दिखलाई पड़ने वाले उसके पुत्र के समान।

यदुक्तं प्राक्, सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन सह व्याप्तिः प्रसङ्गप्रसङ्ग-विपर्ययाभ्यां ग्रहीतव्येति, तत्र कोऽयं प्रसङ्गोनाम ? प्रमाणप्रसिद्ध-व्याप्तिकेन वाक्येन परस्यानिष्टत्वापादनाय प्रसञ्जनं प्रसङ्गः। यथा सामान्यस्य अनेकवृत्तित्वाभ्युपगमे अनेकत्वप्रसञ्जनम्। तथा हि—यदनेकवृत्ति तदनेकं यथा अनेकभाजनगतं तालफलम्। अनेकवृत्ति च सामान्यम्। तस्मादनेनाप्यनेकेन भवितव्यमिति प्रसङ्गः। अथानेकत्वं नेष्यते, तदाऽनेक वृत्तित्वं च मा स्वीकुर्वीथाः। ननु यद्येतत् प्रसङ्गाख्यं साधनं प्रमाणं न भवति [त्रैरूप्याभावात्] कथमस्योपन्यास इति, व्याप्तिस्मरणार्थं व्याप्त्यैकदेशकथनवदिति। यदुक्तम्—'प्रसङ्गो द्वय-सम्बन्धादेकाभावेऽन्यहानये' इति। अस्यायमर्थः—व्याप्यव्यापकयोः

पूर्व में जो यह कहा गया है कि सत्व की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति प्रसंग और प्रसंग के विपर्यय के द्वारा ग्रहीत होनी चाहिए यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्रसंग क्या है ? प्रमाण से सिद्ध व्याप्ति वाले वाक्य के द्वारा दूसरे की अनिष्टता के आपादान के लिये किया गया प्रसञ्जन (आपत्ति प्रदर्शन) प्रसंग कहलाता है। जैसे सामान्य जो एक है उसे अनेक में विद्यमान मानने पर अनेक मानने की आपत्ति आती है। जैसे जो अनेक वृत्ति होता है वह अनेक होता है जैसे अनेक बर्तन में विद्यमान ताल का फल। सामान्य भी अनेक में विद्यमान है। इसलिए इसे भी अनेक होना चाहिए यह प्रसंग (आपत्ति) है। यदि इसे अनेक नहीं मानते हैं तो इसे अनेक में विद्यमान भी नहीं मान सकते। अब यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि यह प्रसंग नामक साधन प्रमाण नहीं है (क्योंकि इसमें हेतु के तीन रूपों का अभाव है) तो इसका उपन्यास क्यों किया जाता है ? उत्तर में कहा गया है कि जिस प्रकार व्याप्ति के एक देश का कथन होता है उसी प्रकार इसका कथन भी व्याप्ति का स्मरण दिलाने के लिये किया जाता है। जो कहा गया है कि प्रसंग दो के सम्बन्ध होने से एक के अभाव में अन्य की हानि के लिये होता है, इसका यह अर्थ है कि व्याप्य और व्यापक में सम्बन्ध होने पर यदि

सम्बन्धे सति यदि व्यापकं नेष्यते तदा व्याप्यमपि नेष्यताम् । अथ व्याप्यमिष्यते तदा व्यापकमपीष्यतामिति ॥

वादिना साधन उपन्यस्ते प्रतिवादिना तत्र दूषणं वक्तव्यमिति न्यायः । असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानामन्यतमस्योद्भावनं दूषणम् । यथोक्तम्—'दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः' इति । नन्वेषामेवोद्भावनं यदि दूषणं, क्व तर्हि वैयर्थ्यासामर्थ्यातिप्रसङ्गादीनामन्तर्भावः ? अत्रैव त्रिषु । तत्रवैयर्थ्यं तावदसिद्धेऽन्तर्भवति । सन्दिग्धसाध्यधर्मो हि हेतुरुच्यते । वैयर्थ्यं तु यत्रोपन्यस्यते तत्र सन्दिग्धसाध्यधर्मकत्वं हेतोर्लक्षणं हेतौ न सम्भवतीति असिद्ध उच्यते । [हेतोर्लक्षणस्यासिद्धेः] यदुक्तम्—'सन्दिग्धे हेतुवचनात् व्यक्तो हेतोरनाश्रयः' इति । असामर्थ्यं तु स्वरूपासिद्धावन्तर्भवति । न हि हेतोः सामर्थ्यं नाम हेतुस्वरूपा-

---

आप व्यापक को नहीं मानते हैं तो व्याप्य को भी मत मानिए और यदि व्याप्य को मानते हैं तो व्यापक को भी मानिए ।

वादी के द्वारा साधन के उपन्यास करने पर प्रतिवादी द्वारा उसमें दूषण देना चाहिए यह न्याय है । असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक इनमें से किसी एक का उद्भावन दूषण देना है । जैसे कहा गया है कि दोष न्यूनता आदि के कथन हैं । यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि इनका उद्भावन ही दूषण है तो वैयर्थ्य, असामर्थ्य एवं अति प्रसंग आदि का अन्तर्भाव कहाँ होगा ? उत्तर में कहा जाता है कि इन्हीं तीनों में । इनमें वैयर्थ्य का अन्तर्भाव असिद्धि में हो जाता है । सन्दिग्ध साध्य धर्म हेतु कहलाता है । जहाँ वैयर्थ्य का उपन्यास किया जाता है वहाँ हेतु में सन्दिग्ध साध्य धर्मकता रूप हेतु का लक्षण सम्भव नहीं है इसलिये असिद्ध कहा जाता है । (हेतु के लक्षण के असिद्ध होने के कारण) जो यह कहा गया है कि सन्दिग्ध में हेतु का निर्देश किया जाता है जहाँ हेतु का अनाश्रय व्यक्त है (वहाँ हेतु कथन की आवश्यकता ही नहीं) । असामर्थ्य का अन्तर्भाव स्वरूप

दन्यत्। हेतोरवस्तुत्वप्रसङ्गात्। अतिप्रसंगश्चानैकान्तिकेऽन्तर्भाव्यः, साध्यधर्ममतिक्रम्य विपक्षेऽपि प्रसक्तेरिति ॥

यत्र तु धर्मिणी साध्यं साधयितुमारब्धं तस्य धर्मिणः प्रमाणबाधित्वे आश्रयासिद्धिर्हेतोर्दूषणम्। यथा सर्वगत आत्मा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्। तदिह बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः, किं पुनरस्य सर्वदेशोपलभ्यमानगुणत्वं सेत्स्यति। तथा हि, तैर्थिकाः खल्वेवं ब्रुवन्ति। शरीरादिवस्तुव्यतिरिक्तं शुभाशुभकर्मकर्तृ तत्फलभोक्तृनित्यव्यापिरूपमात्माख्यं द्रव्यान्तरमस्ति। तेन च यदि नाम विश्वं व्याप्तं तदापि यदुपभोगायतनतया परेण परिगृहीतं जीवच्छरीरं तदेव सात्मकमभिधीयत इति। एतच्चायुक्तम्। आत्मनः सिद्धये प्रमाणाभावात्। न हि प्रत्यक्षेण आत्मा प्रतीयते। चक्षुरादिज्ञानानां रूपादिविषयपञ्चकनियतत्वात्। मानसस्याप्यहंप्रत्ययस्य शरीरादि-

---

सिद्धि में हो जाता है। हेतु का सामर्थ्य हेतु के स्वरूप से अन्य कुछ नहीं है। (क्योंकि ऐसा मानने पर) हेतु को अवस्तु (अवास्तविक) होना पड़ेगा। अति प्रसङ्ग का अन्तर्भाव अनैकान्तिक में हो जाता है। क्योंकि यहाँ हेतु साध्य के धर्म का अतिक्रमण कर विपक्ष में भी रहता है।

जहाँ धर्मी (पक्ष) में साध्य को सिद्ध करना चाहते हैं वहाँ उस पक्ष के प्रमाण से बाधित होने पर आश्रयासिद्धि नामक हेतु का दोष होता है। जैसे आत्मा सर्वगत है क्योंकि वह सब जगह प्राप्त होने वाले गुण वाला है। यहाँ बौद्ध मत में आत्मा ही सिद्ध नहीं है तब फिर इसकी सब जगह उपलब्ध होने वाले गुणवत्ता की सिद्धि कैसे होगी। और तैर्थिक (अन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक) लोग यह कथते हैं कि शरीर आदि वस्तु से व्यतिरिक्त, शुभ एवं अशुभ कर्मों का कर्त्ता, इनके फलों का भोक्ता, नित्य व्यापक आत्मा नामक एक अन्य द्रव्य है। उससे यदि विश्व व्याप्त है तो भी जो उपभोग के आयतन के रूप में दूसरे द्वारा परिगृहीत जीवित शरीर है उसे ही सात्मक (आत्मा से युक्त) कहा जाता है।

विषयत्वात् गौरोऽहं स्थूलोऽहं गच्छाम्यहमित्याद्याकारेण अहं प्रत्यय उत्पद्यते। यदाह अलङ्कारकारः—

अहमित्यपि यज्ज्ञानं तच्छरीरेन्द्रियांशवित्।
अहं काणस्सुखी गौरः समानाधारवेदनात्॥

न चास्य शरीरव्यतिरिक्तस्य तद्धर्मो गौरत्वं स्थूलत्वं वा। न च विभोरमूर्तस्य मूर्तद्रव्यानुविधायिनी गमनक्रिया युक्तिमती। न चायं माणवके सिंहप्रत्यय इव भाक्तो युक्तः, स्खलद्वृत्तिप्रसंगात्। नाप्यनुमानेन प्रतीयते, कार्यस्वभावलिङ्गाभावात्। नित्यपरोक्षेण देशकालाकारव्यतिरेकविकलेनात्मना सह कस्यचिदन्वयव्यतिरेकात्मकार्यकारणभावासिद्धेः कार्यलिङ्गायोगात्। धर्मिसत्तायाश्चसिद्धत्वात्

किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा की सिद्धि के लिए प्रमाण का अभाव है। प्रत्यक्ष से आत्मा का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि चक्षुः आदि ज्ञान रूप आदि पाँच विषयों से नियमित हैं। मानस अहम् (मैं) प्रत्यय भी शरीर आदि विषयक ही है क्योंकि मैं गोरा हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं जाता हूँ इत्यादि रूप से ही 'मैं' का ज्ञान उत्पन्न होता है। जो अलंकार कार ने कहा है कि 'मैं' यह जो ज्ञान है वह भी शरीर, इन्द्रिय के अंश को ही बतलाने वाला है। क्योंकि मैं काना हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं गोरा हूँ, इन सभी वाक्यों से समान आधार ही जाना जाता है। शरीर से अतिरिक्त आत्मा का गुण गोरा पन और मोटापन नहीं हो सकता। अमूर्त विभु (आत्मा) में मूर्त द्रव्य के साथ रहने वाली गमन क्रिया मानना भी युक्ति संगत नहीं है। यदि यह माना जाय कि यह बालक सिंह है इत्यादि प्रत्यय में जैसे सिंह शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है उसी प्रकार यहाँ उनका लाक्षणिक प्रयोग है तो यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से वृत्ति के स्खलन की आपत्ति होगी। (आत्मा) अनुमान से भी उपलब्ध नहीं होता क्योंकि यहाँ कार्य स्वभाव लिंग का अभाव है। नित्य, परोक्ष, देश-काल-आकार के व्यतिरेक से रहित आत्मा के साथ किसी का भी अन्वय व्यतिरेक रूप कार्य कारण भाव के असिद्ध होने के कारण कार्य लिंग संभव नहीं है। धर्मी

स्वभावलिङ्गानुपपत्तेः। न चान्यल्लिङ्गमस्ति। अन्येनापि लिंगेन भवता साध्यव्याप्तेन भवितव्यम्। तस्य च सर्वथाऽसिद्धेः कथंतेन व्याप्तत्वं लिङ्गस्य निश्चीयताम्? किञ्च, किमयमात्मा बोधरूपः, अबोधरूपो वा? यदि बोधरूपो नित्यश्च तदा चक्षुरादिवैफल्यप्रसङ्गो दुर्वारः। अथानित्यो बोधरूपस्तदा ज्ञानस्यैवात्मेति नाम कृतम्, न विप्रतिपत्तिः। अथाबोधरूपो दृश्यश्च तदाऽनुपलम्भोऽस्य सत्तां न क्षमत इति निरात्मसिद्धिरनवद्या। तस्मात् सर्वं संस्कृतं वस्तु निरात्मकमिति ॥

स्वरूपासिद्ध्याऽप्यसिद्धो हेत्वाभासो भवति। यथा अनित्यश्शब्दः चाक्षुषत्वादिति। ननु व्याप्त्यसिद्धिरपि दूषणम्, तेनापि परेष्टार्थासिद्धेः। तत्किनोच्यते? अनैकान्तिकदूषणेनैव गतार्थत्वात् पृथङ्नो-

---

(पक्ष) की सत्ता के असिद्ध होने के कारण स्वभाव लिंग की भी सिद्धि नहीं हो सकती। अन्य कोई लिंग है नहीं। अन्य लिंग मानने पर भी उसे आप को साध्य का व्याप्त मानना ही होगा। साध्य के सभी प्रकार से असिद्ध होने के कारण उससे व्याप्त लिंग का निश्चय कैसे हो सकेगा? और भी-क्या यह आत्मा बोध रूप है या अवोध रूप? यदि यह बोध रूप और नित्य है तो चक्षु आदि की विफलता की आपत्ति का निवारण नहीं हो सकता। और यदि यह अनित्य बोध रूप है तब तो ज्ञान का ही आत्मा नाम रख दिया गया है इसमें कोई विप्रतिपत्ति (आपत्ति) नहीं है। यदि यह अवोध रूप और दृश्य है तो इसकी अनुपलब्धि इसकी सत्ता को सहन नहीं कर सकती इससे तो अनात्मा की सिद्धि ही उचित रूप में हो जाती है। इसलिए सभी संस्कृत वस्तु निरात्मक है, (यह कहना उचित ही है)।

स्वरूपासिद्धि के द्वारा भी असिद्ध हेत्वाभास होता है जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने के कारण। यहाँ यह आशंका की जाती है कि यहाँ व्याप्ति की असिद्धि का भी दोष है उससे भी पर मत के अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो

क्तम्। तथा हि—न स्वलक्षणाभ्यां व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या। स्वलक्षणस्य देशकालाकारनियतत्वेनाप्यन्यत्रानुगमाभावात्। अपि तु साध्यसाधन-सामान्याभ्यामेव व्याप्तिर्ग्रहीतव्या। तत्र च यदि साधनं साध्येन व्याप्तं न प्रतीयते तदा साधनं च स्यात् साध्यं च न स्यादित्यनैकान्ति-कमेव भवति॥

अपोहनिरूपणम्, सामान्यनिरसनं च

ननु सामान्यं चेदप्रसिद्धं, तत्कथं साध्यसाधनसामान्याभ्यां सार्वोपसंहारवती व्याप्तिः प्रमाणेन गृह्यते? नैष दोषः। यतो यादृशं सामान्यं परैः परिकल्प्यते तादृशं प्रमाणेन बाध्यत इति नाभ्युपेयते तत्सौगतैः। ननु व्यवहारप्रसिद्धमन्यव्यावृत्तिलक्षणमपोहसंज्ञितमपि। ननु कोऽयमपोहो नाम? यथाध्यावसायं बाह्य एव घटादिरर्थः अपोह

सकती तब उसे क्यों नहीं बतलाया जाता है? उत्तर में कहा गया है कि वह अनैकान्तिक दोष के अर्थ में ही सम्मिलित हो गया है इसलिए उसे पृथक् नहीं कहा गया है। जैसे दोनों स्वलक्षणों के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया जा सकता। स्वलक्षण के देश-काल-आकार से नियत होने के कारण दूसरी जगह उसका अनुगम नहीं होता। और भी साध्य सामान्य और साधन सामान्य के द्वारा ही व्याप्ति ग्रहीत होनी चाहिये। ऐसी स्थिति में साधन साध्य से व्याप्त प्रतीत नहीं होता है तो साध्य रहेगा और साध्य न रहेगा इस प्रकार अनैकान्तिक ही होगा।

अपोह निरूपण तथा सामान्य निरसन

अब यहाँ यह प्रश्न किया जाता कि यदि सामान्य ही अप्रसिद्ध है तब साध्य सामान्य और साधन सामान्य के द्वारा सर्वोपसंहार वाली व्याप्ति प्रमाण से कैसे सिद्ध होगी? यह दोष नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार का सामान्य अन्य विपक्षियों को मान्य है उस प्रकार का सामान्य प्रमाण से बाधित है अतः उसे बौद्ध लोग भी नहीं मानते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार में प्रसिद्ध अन्य व्यावृत्ति रूप अपोह संज्ञक सामान्य भी प्रमाण सिद्ध नहीं है।

इत्यभिधीयते, अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा। यथाप्रतिभासं बुद्धयाकारो वाऽपोहः, अपोह्यते पृथक् क्रियतेऽस्मिन् बुद्धयाकारे विजातीयमिति कृत्वा। यथातत्त्वं निवृत्तिमात्रं प्रसज्यरूपो वाऽपोहः, अपोहनमपोह इति कृत्वा। ननु यथाध्यवसायं विधिरेव, तर्हि केवलो विषय इत्यागतम्। न अपोहविशिष्टो विधिरभिप्रेतः। यत्तु गोप्रतीतौ न गवात्मा अगवात्मेति सामर्थ्यादपोहः पश्चान्निश्चीयत इति विधिवादिनां मतम्। अन्यापोहप्रतिपत्तौ च सामर्थ्यादन्यापोढो गवादिरर्थोऽवधार्यत इति निवृत्त्यपोहवादिनां मतम्। तन्न युक्तम्, व्यवहारकाले प्रथमं वर्तमानस्यापि प्रतीति क्रमादर्शनात्। न हि विधिं प्रतिपद्य कश्चिदर्थापत्तितः पश्चादपोहमवगच्छति। अपोहं वा प्रतिपद्य पश्चादन्यापोढमवगच्छति। तस्मात् गोप्रतिपत्तिरेव अन्यापोढप्रतिपत्तिरुच्यते। यद्यपि गोशब्दादुच्चरितादन्यापोढशब्दानुल्लेख उक्तः, तथा-

---

यह अपोह क्या है ? अध्यवसाय (निश्चय) के अनुसार बाह्य घट आदि अर्थ ही अपोह कहे जाते हैं क्योंकि इनसे अन्य विजातीय अर्थ का अपोहन (दूरीकरण) होता है। अथवा अपोहन (दूरीकरण) ही अपोह है इस व्याख्या के अनुसार यथातत्त्व, निवृत्ति मात्र प्रसज्य रूप ही अपोह है। यहाँ आशंका की जाती है कि यथाध्यवसाय (निश्चयानुसार) विधि ही है तब इससे केवल विषय ही आता है। अपोह से युक्त विधि मान्य नहीं है। गाय की प्रतीति होने पर गवात्मा अगवात्मा नहीं है सामर्थ्य से यह अपोह पश्चात् निश्चित होता है यह जो विधि वादियों का मत है। तथा अन्य के अपोह की प्रतीति होने पर सामर्थ्य से अन्य का अपोढ़ गौ आदि अर्थ का निर्धारण होता है यह जो निवृत्ति अपोह वादियों का मत है। वह ठीक नहीं है क्योंकि व्यवहार के समय पहले विद्यमान में भी प्रतीति के विषय में क्रम नहीं दीख पड़ता। यह मानना ठीक नहीं होगा कि कोई पहले विधि को समझ कर बाद में अर्थापत्ति से अपोह की जानकारी करता है। अथवा अपोह को समझ कर बाद में अन्य अपोह की जानकारी करता है। इसलिए गाय की जानकारी ही अन्य-अपोढ़ की जानकार कही जाती है। यद्यपि

ऽपि नाप्रतिपत्तिरेव विशेषणभूतस्यान्यापोहस्य। अगवापोढ एव वस्तुनि गोशब्दस्य संकेतितत्वात्। यथा नीलोत्पलसंकेतितेन्दीवर-शब्दात् उत्पल प्रतीतौ तत्काल एव नीलिमस्फुरणमनिवार्यं, तथा गोशब्दादप्यगवापोढ एव वस्तुनि संकेतितात् गोप्रतीतौ तुल्यकालमेव विशेषणत्वात् अपोहस्य अगवापोहस्फुरणमनिवार्यम्। यथा च प्रत्य-क्षस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपाभावग्रहणमभावविकल्पोत्पादनशक्तिरेव, तथा विधिविकल्पानामपितदनुरूपानुष्ठानशक्तिरेवाभावग्रहणमभिधीयते। अन्यथा यदि गोशब्दादर्थप्रतिपत्तिकाले नावगतः परापोहः, कथं तर्हि अन्यपरिहारेण प्रतिपत्ता गवि वर्तताम्। ततो गां बधानेति चोदितो-ऽश्वानपि बध्नीयादिति। तस्मात् स्थितमेतत्, बाह्यार्थोऽध्यवसायादेव शब्दवाच्ये व्यवस्थाप्यते; न तु स्वलक्षणपरिस्फूर्त्या; प्रत्यक्षवद्देश-

---

गो शब्द के उच्चारण से अतिरिक्त अन्य अपोढ़ शब्द का उल्लेख नहीं होता है यह कहा जा चुका है फिर भी विशेषणभूत अन्य अपोह की अप्रतिपत्ति (अज्ञान) ही नहीं रहती। क्योंकि अगव से अपोढ़ वस्तु में ही गो शब्द का संकेत होता है। जैसे नील कमल के अर्थ में संकेतित इन्दीवर शब्द से कमल की प्रतीति होने पर उसी काल में ही नीलिमा का स्फुरण अनिवार्य है उसी प्रकार गो शब्द से भी अगव से अपोढ़ वस्तु का ही संकेत होने के कारण गाय की प्रतीति होने पर उसी काल में ही विशेषण होने के कारण अगव के अपोह का स्फुरण भी अनि-वार्य है। जैसे प्रत्यक्ष का प्रसज्य प्रतिषेध रूप अभाव का ग्रहण, अभाव विकल्प की उत्पादन शक्ति ही है उसी प्रकार विधि विकल्पों का भी उनके अनुरूप अनुष्ठान शक्ति ही अभाव ग्रहण कही जाती है। ऐसा न मानने पर यदि गाय शब्द से अर्थ के ज्ञान के समय में दूसरे का अपोह ज्ञात नहीं होता तो कैसे जानने वाले अन्य का परिहार कर गाय का ही ग्रहण करते हैं। ऐसा न मानने पर तो यही होगा कि यदि यह कहा जाएगा कि गाय बाँधो तो वह घोड़ों को भी बाँध देगा। इससे यह स्थिर हुआ कि वाह्य अर्थ के निश्चय से ही शब्द के वाच्य की व्यवस्था होती है। स्वलक्षण के परिस्फूर्ति से नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष के समान देश-काल-

कालाकारावस्थानियतप्रव्यक्तस्वलक्षणास्फुरणात् । यदाह न्यायपरमेश्वरः—

"शब्देनाव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात् । अर्थस्य दृष्टाविव" इति ॥

किञ्च स्वलक्षणात्मनि वस्तुनि वाच्ये सर्वात्मना प्रतिपत्तेः विधिनिषेधयोरयोगः । तस्य हि सद्भावे अस्तीति व्यर्थम् । नास्तीत्यसमर्थम् । असद्भावे तु नास्तीति व्यर्थम् । अस्तीत्यसमर्थम् । अस्ति चास्त्यादिपदप्रयोगः । तस्मात् परमार्थतो न स्वलक्षणं शब्दैरभिधीयत इति स्थितम् ॥

ननु यथा प्रत्यक्षेण घटस्वरूपे गृहीतेऽपि पश्चात्तत्रैव क्षणिकत्वादिनिश्चयार्थं प्रमाणान्तरं प्रवर्तते, तथा वृक्षशब्देन वृक्षत्वांशे प्रतिपादिते सत्वांशनिश्चयार्थमेव सदादिपदप्रयोगो भविष्यतीति चेत्, न ।

आकार-अवस्था आदि से निश्चित् स्पष्ट स्वलक्षण का स्फुरण नहीं होता जो न्याय परमेश्वर ने कहा है कि:

शब्द से अव्यापृत (असम्बन्धित) इन्द्रिय का वुद्धि में प्रतिभास नहीं होता है जैसे अर्थ का दृष्टि में। और भी स्वलक्षण वस्तु के वाच्य होने पर सभी प्रकार से ज्ञान होने से विधि और निषेध का ही अयोग होगा । उसके सद्भाव 'है' यह व्यर्थ है । 'नहीं है' यह कथन असमर्थ है । असद्भाव में 'नहीं है' यह कथन व्यर्थ है, 'है' यह कथक असमर्थ है । 'है' आदि पदों का प्रयोग होता है इसलिए परमार्थ रूप से स्वलक्षण शब्द से अभिहित नहीं होता है यह निश्चित हुआ ।

अब यहाँ यह आशंका की जाती है कि जैसे प्रत्यक्ष से घट के स्वरूप के ग्रहण करने पर भी बाद में वहीं क्षणिकत्व आदि के निश्चय के लिए अन्य प्रमाण को लगाया जाता है उसी प्रकार वृक्ष शब्द से वृक्षत्वांश के प्रतिपादित हो जाने पर सत्त्वांश के निश्चय के लिए ही सत् आदि का प्रयोग हो सकेगा । यह आशंका ठीक नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष के अनिश्चय रूप होने के कारण जिसका स्वरूप

प्रत्यक्षस्यानिश्चयात्मकत्वादनभ्यस्तस्वरूपविषये प्रमाणान्तरं वर्तत इति युक्तम्। विकल्पस्य तु स्वयं निश्चयात्मकत्वात्, गृहीते स्वरूपे किं प्रमाणान्तरेण परं ग्रहीतव्यमिति ॥

यादृशं सामान्यं परैः परिकल्प्यते अनेकव्यक्तिसमवेतं दृश्यमेकं नित्यं तादृशस्य सत्तासाधकं न किञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे। ततः सदिति व्यवस्थापयितुं तन्न युक्तम्। तथा हि—गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानाद्यात्मकं व्यक्तिस्वरूपमपहाय नान्यत् किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे भासते। तादृशस्यानुभवाभावात्। नापि स्वलक्षणानुभवानन्तरमेकाकारपरामर्शप्रत्ययात् अन्यथाऽनुपपत्त्या सामान्यपरिकल्पनं युक्तिसङ्गतम्। व्यक्तिभ्य एव स्वहेतुदत्तशक्तिभ्योऽस्य प्रत्ययस्य परम्परयोत्पत्तेः। भेदेऽपि काश्चिदेव व्यक्तयोऽस्य जननाय समर्थाः, न सर्वाः, इत्यत्र कार्यकारणभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां दृष्टस्याति-

---

अभ्यस्त नहीं है ऐसे विषय के सम्बन्ध में अन्य प्रमाण का प्रयोग युक्तिसंगत है। किन्तु विकल्प के स्वयं निश्चयात्मक होने के कारण उसके स्वरूप के ग्रहण हो जाने पर क्या दूसरे प्रमाण से कुछ दूसरा ग्रहण किया जाएगा।

जैसा सामान्य अन्य (न्याय आदि) लोग मानते हैं जैसे कि अनेक व्यक्ति में समवेत, दृश्य, नित्य एक, उस प्रकार के सामान्य की सत्ता को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिए 'सत्' इस प्रकार की व्यवस्था करने के लिए वह उचित नहीं है। जैसे कि गाय आदि व्यक्ति के अनुभवकाल में रंग-आकार-संस्थान आदि रूप व्यक्ति के स्वरूप को छोड़ कर किसी अन्य वस्तु का, जो एक अनुगत हो, प्रत्यक्ष में भान नहीं होता। उस प्रकार के अनुभव के अभाव होने के कारण। और न स्वलक्षण के अनुभव के पश्चात् एकाकार के परामर्श के प्रत्यय की अन्यथा अनुपत्ति होने के कारण सामान्य की परिकल्पना ही युक्ति-संगत है। क्योंकि व्यक्तियों से ही अपने हेतु में विद्यमान शक्तियों से परम्परया इस प्रत्यय की उत्पत्ति हो जाती है। भेद हो जाने पर भी कुछ ही व्यक्तियाँ इसकी उत्पति के लिए समर्थ होती हैं सभी नहीं हैं। क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा दृष्ट कार्य-कारण भाव का अतिक्रमण करना शक्य नहीं है।

वर्तयितुमशक्यत्वात् । दृष्टं चेदं सामर्थ्यं भेदाविशेषेऽपि कासाञ्चिदेव व्यक्तीनाम् । यथा ज्वरादिप्रशमने गुलूचीनिम्बादिनाम् । यथोक्तम्—

'एकप्रत्यवमर्शार्थज्ञानाद्येकार्थसाधने ।
भेदेऽपि नियताः केचित्स्वभावेनेन्द्रियादिवत्' ।।

इति । किञ्च सर्वगते विजातीयाद्व्यावृत्ते सत्यपि सामान्ये किं भेदाविशेषेऽपि गोव्यक्तिष्वेव समवेतं तत् सामान्यं तत्रैव चैकाकारां बुद्धिं जनयतीति प्रश्ने स्वभावेनैवेत्युत्तरं परस्य । तच्च प्रमाणासङ्गतम् । अस्माकं तु स्वभावेनोत्तरं प्रमाणसिद्धत्वात् युक्तिसङ्गतमेव ।।

तथेदमपरं जातिसाधनाय साधनं परस्य । यत् विशिष्टं ज्ञानं तत् विशेषणग्रहणनान्तरीयकम्, यथा दण्डिज्ञानम् । विशिष्टज्ञानं चेदं गौरयमित्यर्थतः कार्यहेतुः । अत्रोच्यते—विशिष्टबुद्धेर्भिन्नविशेषण-

---

भेद के अविशेष होने पर भी कुछ व्यक्तियों में ही यह सामर्थ्य देखा गया है जैसे ज्वर रोग के निवारण में गुरुच निम्ब आदि का । जैसे कहा गया है कि एक अर्थ के साधन में ज्ञान आदि एक ही प्रत्यय का निश्चय कराते हैं । इन्द्रिय आदि के समान कुछ भेद में भी स्वभाव से ही निश्चित हैं ।

और भी सर्वगत, विजातीय आदि से व्यावृत्त सामान्य के रहने पर भी क्यों भेद के अविशेष होने पर भी गो व्यक्तियों में ही समवेत होकर वह सामान्य वहीं एकाकार बुद्धि उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में परमतावलम्बी भी यही उत्तर देगें कि ऐसा ही उसका स्वभाव है । वह प्रमाण-संगत नहीं है । हम लोगों (बौद्धों) का 'स्वभाव से' कहा जाना उत्तर प्रमाण सिद्ध होने के कारण युक्ति संगत है ।

उसी प्रकार दूसरे लोगों का जाति को सिद्ध करने के लिए अन्य साधन भी है । जो विशिष्ट ज्ञान होता है वह विशेषण के ग्रहण के पश्चात् ही होता है जैसे दण्डी (दण्डवाला) यह ज्ञान । यह ज्ञान कि 'यह गाय है' विशिष्ट ज्ञान है और यहाँ अर्थतः कार्य हेतु है । यहाँ कहा जाता है कि विशिष्ट बुद्धि में भिन्न विशेषण के ग्रहण के पश्चात् होना सिद्ध किया जाता है या

ग्रहणनान्तरीयकत्वं साध्यं, विशेषणमात्रानुभवनान्तरीयकत्वं वा। प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधा। वस्तुग्राहिणि प्रत्यक्षे उभयप्रतिभासाभावात्। विशिष्टबुद्धित्वं च सामान्यमित्यनैकान्तिको हेतुः स्यात्, भिन्नविशेषणग्रहणमन्तरेणापि तस्य दर्शनात्। यथा स्वरूपवानयं घटः, गोत्वसामान्यमिति वा। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधनम्, स्वरूपवान् घट इत्यादिवत् गोत्वादिजातिमान् पिण्ड इति परिकल्पितभेदमुपादाय विशेषणविशेष्यभावस्येष्टत्वात्। अगोव्यावृत्त्यनुभवभावित्वात् गौरयमिति व्यवहारस्य। तदेवं अतोऽपि साधनान्न सामान्यसिद्धिरिति। तदेवं परपरिकल्पितसामान्यस्य विचारासहत्वात्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रमेव सामान्यमपोहशब्दवाच्यं व्यवहाराङ्गं यथाध्यवसायमनवद्यमिति स्थितम्। सामान्यस्य निषेधाय प्रयोगः पुनरेवं कर्तव्यः—यद्यत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्र असद्व्यवहारविषयः, यथा तुरङ्ग-

---

विशेषण मात्र के अनुभव के पश्चात् होना। पहले पक्ष में प्रत्यक्ष में ही बाधा है। क्योंकि वस्तु को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष में दोनों का प्रतिभास नहीं होता है। विशिष्ट बुद्धित्व सामान्य है यहाँ हेतु अनैकान्तिक होगा क्योंकि भिन्न विशेषण के ग्रहण के विना भी उसका ज्ञान हो सकता है। जैसे यह घट रूपवान् है अथवा यह गोत्व सामान्य है। दूसरे पक्ष में सिद्ध साधन दोष है क्योंकि स्वरूप वान् घट इत्यादि के समान गोत्व जाति वाला यह पिण्ड है इत्यादि परिकल्पित भेद को लेकर विशेषण विशेष्य भाव को आवश्यक मानना होगा। क्योंकि 'यह गाय है' यह व्यवहार भी 'अगाय' की व्यावृत्ति के अनुभव के पश्चात् होता है। इस प्रकार इस साधन से भी सामान्य की सिद्धि न होगी। इस प्रकार परमत में परिकल्पित सामान्य के विचार संगत न होने के कारण अतद् रूप से परावृत्त वस्तु मात्र ही सामान्य, अपोह शब्द-वाच्य व्यवहार का अंग, यथाध्यवसाय (निश्चय के अनुरूप) अनवद्य (निर्दोष) सिद्ध हो जाता है। समान्य के निषेध के लिये फिर इस प्रकार का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ जो उपलब्धि लक्षण के प्राप्त होने पर भी उपलब्ध नहीं होता है वहाँ वह असत् व्यवहार का विषय है। जैसे घोड़े के शिर पर सींग। उपलब्धि लक्षण के प्राप्त होने पर भी

मोत्तमांगे शृङ्गं, नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं परिदृश्यमानासु व्यक्तिष्विति स्वभावानुपलब्धिः। नचासिद्धसम्भावना। वर्णसंस्थानलक्षणं व्यक्तिस्वरूपमपहाय द्वितीयस्यानुयायिनो रूपस्य निपुणमपि निरूप्यमाणस्य सर्वथा दर्शनाभावात्। नापि ज्ञानवद्दर्शनाभावेऽपि प्रत्यक्षसिद्धत्वमस्याभिधातुमुचितम्। ज्ञानं हि स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धम्, न तु चक्षुर्विज्ञानग्राह्यम्। इदं तु [सामान्यं] चक्षुर्विज्ञानग्राह्यमर्थधर्मत्वात्। प्रत्यक्षं च परैरिष्टमिति। तदेवं परपरिकल्पितसामान्यस्य विचारासहत्वात्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रमेव सामान्यमुक्तम् तस्मात् सर्वं संस्कृतं वस्तु परपरिकल्पितसामान्येन शून्यमिति स्थितम्।

ईश्वरसाधननिरसनम्

नापि केनचिद्बुद्धिमतोपरचितमित्यपि विज्ञेयम्। तथा हि—अस्य जगतः कर्ता भवन् नित्यो वा भवेदनित्यो वा। तत्र न तावन्नित्यो

सामान्य की दिखलाई पड़ने वाली व्यक्तियों में स्वाभाविक अनुपलब्धि है। (इस अनुमान में) असिद्धि की संभावना नहीं हो सकती। क्योंकि वर्ण-संस्थान रूप व्यक्ति के स्वरूप को छोड़ कर खूब सावधानी से देखने पर भी किसी दूसरे अनुगत रूपका दर्शन कभी नहीं होता। न दिखलाई पड़ने पर भी ज्ञान के समान इसको प्रत्यक्ष सिद्ध कहना भी संगत नहीं है। ज्ञान तो स्वसंवेदन प्रमाण से सिद्ध होता है चक्षु विज्ञान से ग्राह्य नहीं होता। यह (सामान्य) तो अर्थ के धर्म (गुण) होने के कारण चक्षु विज्ञान ग्राह्य है। पर मत में भी इसे प्रत्यक्ष माना जाता है। इसलिए दूसरे के मत में मान्य परिकल्पित सामान्य के विचार संगत न होने के कारण अतद् रूप से परावृत्त मात्र ही सामान्य है यह कहा गया है इसलिये सब संस्कृत वस्तु दूसरे के मत में परिकल्पित सामान्य से शून्य है यह निश्चित हुआ।

इश्वर साधन निरसन

(यह जगत्) किसी बुद्धिमान् के द्वारा विरचित हैं यह भी नहीं सिद्ध किया जा सकता। जैसे इस जगत् का कर्ता होने वाला नित्य होगा या अनित्य?

युक्तः, नित्ये कर्तरि समर्थे सति सर्गस्थितिप्रलयानां नियमेन यौगपद्य-प्रसङ्गात्। येन हि स्वरूपेण स्थितिप्रलययोः स कर्त्ता तदस्य स्वरूपं सर्गकालेऽपि सन्निहितमिति तदैव स्थितिप्रलयौ कुर्यात्। सहकारिविरहान्न करोतीति चेत्, तदसत्। न हि नित्येन सहकारिणा कदाचिदप्ययं विरहितः सदा सन्निहितत्वात्। नाप्यनित्येन सहकारिणा विरहितः, अनित्यसहकारिणोऽपि तदायत्तजन्मत्वात्। तत एकदा सर्वकरणादिप्रसङ्गः॥

ननु बुद्धिमत्त्वादीश्वरस्य नैष दोषः। बुद्धिशून्यो हि स्वसत्तामात्रजन्यं कार्यमक्रमेणैव कुर्यात्। बुद्धिमांस्तु कर्त्तुमीशानोऽपि अनिच्छन्न करोतीति कस्तस्योपालम्भः? उच्यते—ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनाः किं करोतीति स एवास्योपालम्भः। अथ स्वरूपेण सामर्थ्ये सत्यपि एष एव तस्य स्वभावः, यत्सहकारिलक्षणयाऽऽगन्तुकशक्त्या

इसमें उसको नित्य मानना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि नित्य कर्ता के समर्थ रहने पर नियमतः सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय के साथ होने की आपत्ति होगी। जिस स्वरूप से वह स्थिति और प्रलय का कर्ता है उसका वह स्वरूप सृष्टि के समय भी साथ रहेगा इसलिए वह उसी समय स्थिति और प्रलय भी करेगा। यदि यह कहा जाय कि सहकारी कारण के न रहने के कारण वह नहीं करता है तो यह कथन ठीक नहीं होगा क्योंकि सदा साथ रहने के कारण नित्य सहकारी कारण से रहित वह कभी भी नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि अनित्य सहकारी कारणों से वह रहित होता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनित्य सहकारी कारणों की उत्पत्ति तो उसी के आधीन है। इसलिए एक ही समय में सब कुछ करने की आपत्ति होगी।

यदि यह आशंका उठायी जाय कि बुद्धिमान् होने के कारण ईश्वर में यह दोष नहीं है। बुद्धि शून्य तो अपनी सत्ता मात्र से उत्पन्न कार्य को क्रम से ही कर सकता है। बुद्धिमान् तो करने में समर्थ होकर भी इच्छा न करने के कारण नहीं करता है इसमें उसका दोष क्या है? उत्तर में कहा जाता है कि उन इच्छाओं को भी अपनी सत्ता मात्र से निबन्धित क्या करता है? यही उसका दोष

विना न करोतीति चेत्, तर्हि माताऽपि सति वन्ध्या सा प्रकृत्यैवैतदपि वक्तव्यं भवेद्भवतामिति यत्किञ्चिदेतत् ॥

नन्वेष एव कार्यस्वभावः, केवलात् समर्थादपि नोदेति, सहकारिणमपेक्ष्यैव पश्चाद्भवति [नास्योपालम्भ इति] तन्न युक्तम्। समर्थो हि सहकार्यपेक्षामनादृत्य बलादेव कार्यं कुर्यात्। अन्यथा [ह्यस्य] असमर्थत्वप्रसङ्गात्। नापि नित्यः क्रमेण कार्यकारीति युक्तम्, निरपेक्षत्वात्। यदाह दिङ्मण्डलविख्यातकीर्तिर्धर्मकीर्तिः—

नित्यस्य निरपेक्षत्वात् क्रमोत्पत्तिर्न युज्यते।
क्रियायामक्रियायां च कालयोः सदृशात्मनः ॥

इति। एतेन आत्मादीनामक्षणिकानां घटादीनां क्षणिकानां च क्रमेण कार्यकरणं प्रत्युक्तम्। न चात्र प्रत्यक्षविरोधः, प्रत्यक्षेणाक्षणिकस्य ग्रहणायोगात्। न हि क्षणिकं प्रत्यक्षमक्षणिकमीक्षितुं क्षमते। अनेक-

---

है। और यदि स्वरूप से सामर्थ्य के रहने पर भी यही उसका स्वभाव है कि सहकारी रूप आगन्तुक शक्ति के न रहने पर नहीं करता है तब तो माता होने पर भी वह स्वभाव से वन्ध्या है यह भी आपको कहना होगा। यह तो कुछ ही है।

यदि यह कहा जाय कि कार्य का स्वभाव ही ऐसा है कि केवल सामर्थ्य से भी उत्पन्न नहीं होता है सहकारी की अपेक्षा से ही बाद में होता है [इसका कोई दोष नहीं है] तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जो समर्थ होता है सहकारी की अपेक्षा का तिरस्कार कर हठात् कार्य करता है। ऐसा न करने पर (उसमें) असमर्थता की आपत्ति होती है। नित्य क्रम से कार्य करने वाला होता है यह मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि वह निरपेक्ष होता है। विश्व, विख्यात कीर्ति वाले धर्मकीर्ति ने जो कहा है कि:

नित्य के निरपेक्ष होने के कारण क्रमिक उत्पत्ति मानना संगत नहीं है क्योंकि वह क्रिया तथा अक्रिया दोनों ही काल में समान रूप है।

इससे अक्षणिक आत्मा आदि के, और क्षणिक घट आदि के क्रम से कार्य करने का खण्डन हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ प्रत्यक्ष का विरोध है क्योंकि प्रत्यक्ष से अक्षणिक का ग्रहण ही नहीं होता। क्षणिक प्रत्यक्ष

क्षणव्यापारो ह्यक्षणिकः। स कथमेकक्षणभाविनाध्यक्षेण ग्रीहतुं शक्यः। न हि प्रागूर्ध्वं चावस्थानमधुना प्रकाशते। तस्याप्यधुनातनताप्रसङ्गात्। जन्मविनाशावधिप्रतिभासप्रसङ्गादिति नेदं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालव्याप्तमर्थं कञ्चिदपि ग्रहीतुमलम्। एतेन प्रत्यभिज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमाख्यातम्। साक्षात्कारि हि ज्ञानं प्रत्यक्षम्। न च प्रागवस्थमधुना साक्षात्कर्त्तव्यं, अपि तु स्मर्त्तव्यम्। न च स्मरणस्वरूपं प्रत्यक्षम्। अथ मतं भवेदिदं स्मरणं यदिदानीन्तनमवस्थानं न साक्षात्कुर्यात्, तत्साक्षात्करणप्रवणं कथमिदं स्मरणं नाम ? यदाह भट्टः—

"पूर्वं प्रमितमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः।
स एवायमितीयं तु प्रत्यभिज्ञाऽतिरेकिणी॥"

अक्षणिक को देखने में समर्थ नहीं हो सकता। अनेक क्षण में होने वाले व्यापार को अक्षणिक कहा जाता है। एक क्षण में रहने वाला द्रष्टा उसका (अनेक क्षण में होने वाले व्यापार का) ग्रहण कैसे कर सकता है। इस समय भूत और भविष्य अवस्था का प्रकाश नहीं होता। ऐसा मानने पर उस अवस्था को भी आधुनिक मानना पड़ेगा। जन्म और विनाश की अवधि के प्रतिभास की भी आपत्ति होगी। इसलिए यह प्रत्यक्ष अपने पूर्व और अपने पश्चात् काल में विद्यमान् किसी भी अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। इससे प्रत्यभिज्ञा के अप्रत्यक्षत्व को भी बतला दिया गया है। साक्षात् करने वाला ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। पूर्व अवस्था का इस समय साक्षात् नहीं किया जा सकता अपितु स्मरण किया जा सकता है। प्रत्यक्ष स्मरण स्वरूप नहीं होता। यह स्मरण माना जा सकता है यदि इस समय की अवस्था का साक्षात् न किया जाय; उसको साक्षात् करने के लिए उन्मुख इसको स्मरण कैसे कहा जा सकता है। भट्ट ने जो कहा है कि:

"पहले ज्ञान मात्र में 'वह' इस प्रकार की स्मृति उत्पन्न होती है और वही यह है इस प्रकार की अतिरेक वाली प्रत्यभिज्ञा होती है।"

इति । स्मरणग्रहणस्वरूपं तर्हि प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, न तु ग्रहणस्वरूपमेव । स्मर्यमाणे ग्रहणायोगात्, गृह्यमाणे च स्मरणायोगात् । न चैकस्य स्मरणग्रहणे सम्भवतः, परस्परविरोधात् । येन हि स्वरूपेण स्मरणं न तेन स्वरूपेण ग्रहणमित्यनुन्मत्तेन शक्यते वक्तुम् । रूपान्तरेण चैकस्य स्मरणग्रहणे न स्याताम् । भावेऽपि प्रत्यक्षाप्रत्यक्षे स्याताम् । न तु स्मर्यमाणे प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षायोगात् । तस्मात् प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो भ्रान्त एव, निर्विषयत्वात् । प्रयोगश्चैवम्—यः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः स तत्त्वतो नैकालम्बनः, यथा लूनपुनर्जाततृणादिषु । प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्चायं तदेवेदं नीलादीतिप्रत्यय इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः । एकत्वानेकत्वयोः परस्परविरोधात् तद्विषयकसंवेदनयोरपि विरोधः तेनैकालम्बनत्वविरुद्धेन अनेकालम्बनत्वेन पूर्वोक्तया नीत्या प्रत्यभि-

---

तब तो प्रत्यभिज्ञान स्मरण के ग्रहण स्वरूप होगा ग्रहण स्वरूप ही नहीं होगा । स्मरण किए जाते हुए विषय का ग्रहण नहीं हो पाता और ग्रहण किये जाते हुए विषय का स्मरण नहीं हो पाता । एक ही का स्मरण और ग्रहण दोनों सम्भव नहीं क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है । जिस रूप से स्मरण हुआ है उस रूप से ग्रहण नहीं हुआ है यह एक स्वस्थबुद्धि का व्यक्ति कह सकता है । रूपान्तर से एक का स्मरण और ग्रहण दोनों नहीं हो सकेगा । अस्तित्व रहने पर भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों होगा । यदि यह कहें कि स्मर्यमाण का प्रत्यक्ष ही होगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष का योग नहीं होता । इसलिए प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय भ्रान्त ही है क्योंकि वह निर्विषयक होता है । प्रयोग भी इस प्रकार होता है:—जो प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय है वह तत्वतः एक के आधार पर नहीं होता है जैसे काटे गये और फिर जने हुए तृण आदि में । प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय यह है 'यह वही नील आदि है' यह प्रत्यय (इसमें) विरुद्ध व्याप्त की उपलब्धि होती है । क्योंकि एकत्व और अनेकत्व में परस्पर विरोध है और तद् विषयक संवेदनों में भी विरोध है । इसलिए एक काल आलम्बनत्व के विरुद्ध अनेक काल

ज्ञाप्रत्ययो व्याप्त इति न प्रत्यभिज्ञानं क्षणिकानुमानबाधकम्। न च केशादिष्वपि सामान्यालम्बनतया एकालम्बनत्वम्। केशादिव्यक्तेरेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। सामान्ये प्रत्यभिज्ञायमाने तदेवेदं केशत्वादीति स्यात्, न तदेवेदं केशादीति। अत एवैकालम्बनत्वे प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययस्य क्रमेतराभ्यामुत्पत्तिविरोधात् विरुद्धानैकान्तिकत्वे नाशङ्कनीये। न च प्रत्यभिज्ञानमेव तदवस्थापकम्, यस्यैव विचार्यमाणत्वात्। तस्मात् स्थितमेतत् नित्यः कर्ता नास्तीति। यदि नित्यः कर्ता जगतो न कारणं, किमस्य तर्हि कारणं ?

सत्त्वानां शुभकर्मणः जगतः कारणत्वसमर्थनम्

सत्वानां शुभाशुभाख्यं कर्म। यथोक्तम् :—

सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं
चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं
कर्म चित्तमवधूय न चास्ति॥

आलम्बनत्व से पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय व्याप्त है इससे प्रत्यभिज्ञा क्षणिक के अनुमान में बाधक न होगा। केश आदि में सामान्य आलम्बन के द्वारा एकालम्बनत्व मानना ठीक नहीं है क्योंकि केश आदि व्यक्ति का ही प्रत्यभिज्ञान होता है। सामान्य की प्रत्यभिज्ञा होने पर यह वही केशत्व आदि है इस प्रकार होता है न कि यह वही केश आदि है इस प्रकार। इसलिए ही प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय के एकालम्बनत्व होने पर क्रम और इतर (अन्य) के द्वारा उत्पत्ति के विरोध होने के कारण विरुद्ध और अनैकान्तिक दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यभिज्ञान ही उसका अवस्थापक है क्योंकि वह (प्रत्यभिज्ञान) स्वयं ही विचारणीय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि नित्य कर्त्ता नहीं है। यदि नित्य कर्त्ता जगत् का कारण नहीं है तो उसका कारण क्या है ?

सत्वों के शुभ कर्मों का जगत्कारणत्व समर्थन

प्राणियों के शुभ अशुभ नामक कर्म। जैसे कहा गया है कि जीव लोक और विषय लोक की रचना अत्यन्त विचित्र रूप में चित्त ही करता है। उक्त निर्दिष्ट समस्त जगत् कर्म से उत्पन्न हुआ है। कर्म और चित्त को हटाकर यह नहीं है।

सर्वज्ञसमर्थनम्, भवपरम्परासमर्थनं च

इति। वैभाषिकमाश्रित्य पुनर्भगवता सर्वज्ञेन चोक्तम्—

'आकाशं द्वौ निरोधौ च नित्यं त्रयमसंस्कृतम्
संस्कृतं क्षणिकं सर्वमात्मशून्यमकर्तृकम्' ॥ इति।

ननु सर्वज्ञसिद्धौ हि तद्वचनं निदर्शनीकर्तुमुचितम्। सर्वज्ञसिद्धये किं प्रमाणमिति चेत् उच्यते। यो यः सादरनिरन्तरदीर्घकालाभ्यासकलितचेतोगुणः स सर्वः स्फुटीभावयोग्यः, यथा युवत्याकारः कामिनः पुरुषस्य। यथोक्ताभ्यासकलितचेतोगुणाश्चामी चतुरार्यसत्यविषयाकारा इति स्वभावहेतुः। न तावदाश्रयद्वारेण हेतुद्वारेण वासिद्धसम्भावना। सङ्कल्परूढानां चतुरार्यसत्यविषयाकाराणां धर्मिणां चेतोगुणमात्रस्य च हेतोः प्रत्यात्मवेद्यत्वात्। न चैष विरुद्धः, सपक्षे कामि-

---

सर्वज्ञ समर्थन तथा भव परम्परा समर्थन

वैभाषिक मत के आधार पर सर्वज्ञ भगवान् ने पुनः कहा है कि

आकाश, दो निरोध (प्रति संख्या निरोध, अप्रति संख्या निरोध) और असंस्कृत ये तीन नित्य हैं और सभी संस्कृत क्षणिक हैं आत्म शून्य हैं अकर्तृक हैं।

यहाँ यह आशंका की जाती है कि सर्वज्ञता सिद्ध होने पर ही उनके वचन को उदाहरण के लिए उपस्थित करना उचित होगा किन्तु सर्वज्ञता की सिद्धि में क्या प्रमाण है? उत्तर में कहा जाता है कि जो-जो आदर समेत निरन्तर बहुत समय तक अभ्यास से युक्त चेतस् का गुण है वह सभी स्फुट होने योग्य है जैसे कामी पुरुष को युवती का स्वरूप। ये चार आर्य विषयों के आकार जैसे ऊपर कहा गया है उस प्रकार के अभ्यास युक्त चेतस् के गुण हैं। यह स्वभाव हेतु है। इसमें आश्रय के द्वारा या हेतु के द्वारा असिद्धि की सम्भावना नहीं है क्योंकि संकल्प रूढ़, चार आर्य सत्य विषय के आकार रूप धर्मियों का चेतस् के गुण मात्र रूप हेतु का भान प्रत्येक व्यक्ति को होता है। यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि

न्याकारे सम्भवात्। न चानैकान्तिकः, अभ्यासेन सहितचेतोगुणस्फुटप्रतिभासयोः कारणकार्ययोः कुम्भकारघटयोरिव सर्वोपसंहारेण प्रत्यक्षानुपलम्भतः कार्यकारणभावसिद्धौ अभ्याससहितचेतोगुणत्वस्य साधनस्य स्फुटप्रतिभासकारणयोग्यतया व्याप्तिसिद्धेः। तथा हि—व्याप्त्यधिकरणे कामातुरवर्तिनि युवत्याकारे सादरनिरन्तरदीर्घकालाभ्याससहितचेतोगुणात् पूर्वमनुपलब्धिः स्फुटाभत्वस्य, पश्चादभ्याससंवेदनं, स्फुटाभसंवेदनमिति त्रिविधप्रत्यक्षानुपलम्भसाध्यः कार्यकारणभावः स्फुटप्रतिभासाभ्यास सहितचित्ताकारयोरित्युपपन्ना सर्वोपसंहारवतीव्याप्तिः। अतोऽनैकान्तिकत्वाभावात् अनवद्यो हेतुः॥

नन्वनेन साधनेन चतुरार्यसत्याकाराणां साक्षात्करणात् चतुरार्यसत्याकारसाक्षात्कारी विवक्षितस्सर्वज्ञः सिध्यति, न त्वविशेषेण सर्व-

---

कामिनी के आकार रूप सपक्ष में यह विद्यमान है। इसमें अनैकान्तिक दोष भी नहीं है क्योंकि अभ्यास के साथ चेतस् के गुण और स्फुट प्रतिभास जो कारण और कार्य हैं, उनमें कुम्भकार और घट के समान सर्वोपसंहार के द्वारा प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से कार्य कारण भाव सिद्ध हो जाने पर अभ्यास सहित चेतस् के गुणत्व रूप साधन का स्फुट प्रतिभास कारण योग्यता के साथ व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। जैसे व्याप्ति के अधिकरण कामातुर व्यक्ति में विद्यमान युवती के आकार में सादर एवं निरन्तर बहुत समय तक अभ्यास युक्त चेतस् के गुण से स्फुटाभत्व (स्फुट प्रतिभास) की पहले उपलब्धि होती है, बाद में अभ्यास का संवेदन होता है और स्फुटाभ (स्फुट-प्रतिभास) का संवेदन होता है। तीन प्रकार के प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से साध्य कार्यकारण भाव, स्फुट-प्रतिभास का अभ्यास सहित चित्त तथा आकार में सर्व-उपसंहार वाली व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। इसलिए अनैकान्तिक न होने के कारण हेतु निर्दोष है। अब यहाँ यह आशंका की जाती कि इस हेतु से चार आर्य सत्यों के आकारों के साक्षात् करने से चार आर्य-सत्यों के आकारों को साक्षात् करने वाला विवक्षित सर्वज्ञ सिद्ध

धर्मसाक्षात्कारी, ततस्तत्सिद्धये साधनान्तरमभिधेयम् । उच्यते—यत्प्रमाणसंवादि निश्चितार्थं वचनं, तत् साक्षात् पारंपर्येण वा तदर्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकं, यथा दहनो दाहक इति वचनम् । प्रमाणसंवादिनिश्चितार्थं चेदं वचनं, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति अर्थतः कार्यहेतुः । नास्यासिद्धिः, सर्वधर्मक्षणभङ्गप्रसाधनादस्य वचनस्य सत्यार्थत्वात् । नापि विरुद्धः, सपक्षे भावात् । न चानैकान्तिकता, वचनमात्रस्य संशयविपर्यासपूर्वकत्वेऽपि प्रमाण [संवादि] निश्चितार्थस्य [वचनस्य] साक्षात् पारंपर्येण वा तदर्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेन प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामुपलम्भात् । अन्यथा धूमादावपि हेतुत्यागप्रसङ्गादशेषकार्यहेतूच्छेदप्रसङ्गः ॥

स्यादेतत् । अनेकभवपरम्परालक्षणेन दीर्घकालेन भाव्यस्य सङ्ग-

होता है, बिना किसी विशेषण के सर्व धर्मों के साक्षात् करने वाले की सिद्धि नहीं होती है इसलिये उसकी सिद्धि के लिये अन्य हेतु का निर्देश होना चाहिए। उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि जो प्रमाण के संवादी निश्चित अर्थ वाला वचन है वह साक्षात् अथवा परम्परा या उस अर्थ के साक्षात् करने वाले ज्ञानपूर्वक होता है जैसे 'अग्नि दाहक होती है' यह वचन। यह वचन कि सब संस्कार क्षणिक है प्रमाण के संवादी निश्चित अर्थवाला है यह अर्थ से कार्य हेतु है। इस हेतु में असिद्धि दोष नहीं है क्योंकि सभी धर्मों के क्षणभंग प्रसाधन से यह वचन सत्यार्थ हो जाता है। यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि यह सपक्ष में रहता है। इसमें अनैकान्तिक दोष भी नहीं है क्योंकि वचन मात्र के संशय एवं विपर्यासपूर्वक होने पर भी प्रमाण (के संवादी) निश्चित अर्थ वाले (वचन) साक्षात् या परम्परा या उस अर्थ के साक्षात् करने वाले ज्ञानपूर्वक होते हैं, इसका ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के द्वारा हो जाता है। ऐसा न मानने पर धूम आदि में भी हेतु के त्याग की आपत्ति होने के कारण समस्त कार्य हेतु के उच्छेद होने की आपत्ति होगी।

यदि यह मान भी लेते हैं तो भी अनेक भव परम्परा स्वरूप बहुत काल में

ल्पारूढस्य स्फुटाभत्वं सम्भाव्यते। भवपरम्परासिद्धये तु किं प्रमाणम् ? उच्यते। यच्चित्तं तत् चित्तान्तरं प्रतिसन्धत्ते, यथेदानीन्तनं चित्तम्। चित्तं च मरणकालभावीति स्वभावहेतुः,। न चार्हच्चरमचित्तेन व्यभिचारः। तस्यागममात्रप्रतीतत्वात् निःक्लेशचित्तान्तरजननाद्वा हेतोः क्लेशे सति विशेषापेक्षणादित्यनागतभवसिद्धिः। इह पूर्वजन्माभ्यासात् तपोदानाध्ययनादौ सर्वसत्वानामभ्यासे प्रवृत्तिरिति प्रवादः। ततस्तत्सिद्धये प्रमाणमुच्यते—यच्चितं तत् चित्तान्तरपूर्वकं यथेदानीन्तनं चित्तम्। चित्तं च जन्मसमयभावीत्यर्थतः कार्यहेतुः ॥

वैभाषिकसौत्रान्तिकमतनिरूपणम्

ननु तत्त्वसाक्षात्करणान्मुक्तिः। तत्त्वं चैकमेव, यथोक्तम्—'मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टिस्तदर्थाशेषभावना' इति। तत्कथं सर्वज्ञद्वैतं,

---

होने वाले संकल्प में आरूढ़ के स्फुटाभत्व (स्फुट-प्रतिभासता) की संभावना की जाती है। किन्तु भव परम्परा की सिद्धि के लिए क्या प्रमाण है ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि जो चित्त है वह अन्यचित्त को प्रतिसंधारण करता है जैसे इस समय में विद्यमान चित्त। चित्त मरण काल में रहता है, यह स्वाभाविक हेतु है। इस हेतु में अर्हत् के अन्तिम चित्त से व्यभिचार नहीं है क्योंकि उसकी प्रतीति आगम मात्र से होती है, अथवा यह भी माना जा सकता है कि वह अन्तिम चित्त क्लेशरहित अन्य चित्त को उत्पन्न करता है क्लेश के रहने पर हेतु को विशेष की अपेक्षा होती है इस प्रकार अनागत भव की सिद्धि हो जाती है। यहाँ यह एक प्रवाद है कि पूर्व जन्म के अभ्यास के कारण सभी प्राणियों की प्रवृत्ति तप, दान, अध्ययन, अभ्यास आदि में होती है। इसलिए इसकी सिद्धि के लिये प्रमाण बतलाया जाता है—जो चित्त है वह अन्य चित्त पूर्वक है (अर्थात् उसके पूर्व में अन्य चित्त अवश्य रहा है)। जैसे इस समय विद्यमान चित्त। चित्त जन्म के समय में रहता है यह अर्थ से कार्य हेतु है।

वैभाषिक-सौत्रान्तिक-मत निरूपण

अब यहाँ यह आशंका की जाती है कि तत्त्व के साक्षात्कार करने से मुक्ति होती है और तत्व तो एक ही है जैसे कहा गया है कि मुक्ति तो शून्यता की दृष्टि

बौद्धप्रभेदश्चेति ? नैष दोषः । यस्मात्सर्वमेतत् भूतार्थे सत्त्वानवतारयितुं भगवता प्रतिपादितम् । तथा हि वैभाषिकाणां मतम्—

अकाशं द्वौ निरोधौ च नित्यं त्रयमसंस्कृतम् ।
संस्कृतं क्षणिकं सर्वमात्मशून्यमकर्तृकम् ।। इति ।।

सौत्रान्तिकानां मतम्—ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभासते, न बाह्योऽर्थः, जडस्य प्रकाशायोगात् । यथोक्तम्—

'स्वकारज्ञानजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः'

इति ।। अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ।
नचेत्संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ।।

है और उसी के लिये अशेष भावना है । तो कैसे सर्वज्ञ द्वैत और बौद्ध प्रभेद सिद्ध हो सकते हैं । उत्तर पक्ष की ओर से यह कहा जाता है कि यह दोष नहीं है क्योंकि यह सब कुछ भगवान ने प्राणियों को भूतार्थ (सत्य-अर्थ) बतलाने के लिए प्रतिपादित किया है । जैसे कि वैभाषिकों का मत है कि

आकाश एवं दो प्रकार के निरोध (प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध) ये तीनों असंस्कृत और नित्य हैं, और सब संस्कृत क्षणिक, आत्मशून्य और अकर्तृक हैं ।

सौत्रान्तिकों का मत है कि यह सब कुछ ज्ञान ही है जो नील आदि आकाश में प्रतिभासित होता है वह बाह्य अर्थ नहीं है क्योंकि जड़ में प्रकाश की योग्यता नहीं होती । जैसे कहा गया है कि दृश्य अपने आकारानुरूप ज्ञान के जनक होते हैं वे इन्द्रिय गोचर नहीं होते हैं ।

अलंकारकार ने भी कहा है कि

यदि नील का संवेदन होता है तो उसे बाह्य कैसे कहा जा सकता है और यदि नील की संवेदना ही नहीं होती तो उसे बाह्य कैसे कहा जा सकता है ।

ननु यदि प्रकाशमानं ज्ञानमेवेदं, तदाऽस्ति बाह्योऽर्थं इति कुतः? बाह्यार्थसिद्धिस्तु स्याद्व्यतिरेकतः। न हि सर्वत्र सर्वदा नीलादय आकाराः प्रकाशन्ते। न चैतत् स्वोपादानमात्र बलभावित्वे सति युज्यते। नियतविषये प्रवृत्त्ययोगात्। तस्मादस्ति किञ्चिदेषां समनन्तरप्रत्ययव्यतिरिक्तं कारणं, यद्बलेन क्वचित् कदाचित् भवन्तीति शक्यमवसातुम्, स एव बाह्योऽर्थं इति, न पुनरसौ बाह्योऽर्थः अवयवी, गुणादयो धर्माः द्रव्याश्रयिणः पराभिमताः, नवविधं द्रव्यं परमाणवो वेति। तत्र न तावत् गुणादयः, द्रव्यनिषेधेनैव तेषां निषेधात्। न चासति समवायिनि द्रव्ये समवाय इति तद्दूषणमत्र नाद्रियते। द्रव्यं च पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नवविधम्।

आत्माकाशकालदिङ्मनसां निरासनम्

तत्रात्मनिषेधायेदमपि साधनम्—यत्कादाचित्कं ज्ञानं तत्कादा-

यहाँ यह आशंका की जाती है कि प्रकाशमान जो कुछ है वह ज्ञान ही है तो वाह्य अर्थ है यह कैसे कहा जा सकता है? उत्तर में कहा जाता है कि वाह्य अर्थ की सिद्धि व्यतिरेक से होती है। सभी जगह और सभी समय में नील आदि आकार प्रकाशित नहीं होते हैं। उनको अपने उपादान मात्र के बल से उत्पन्न मान लेने में यह संगत नहीं हो पाता है क्योंकि नियत विषय में प्रवृत्ति का योग नहीं होता। इसलिए इनका कोई समनन्तर प्रत्यय से अतिरिक्त कारण है जिसके बल से ये कभी और कहीं होते हैं यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वही वाह्य अर्थ है। किन्तु वह वाह्य अर्थ अवयवी, द्रव्याश्रित गुण आदि, अन्य-मत-सिद्ध नव प्रकार के द्रव्य या परमाणु आदि नहीं है। इनमें गुण आदि नहीं हैं क्योंकि द्रव्य के निषेध हो जाने से ही उनका निषेध हो जाता है। समवायि द्रव्य के न रहने पर समवाय भी नहीं रहेगा इसलिये उसके दोषों को यहाँ महत्व नहीं दिया गया है। द्रव्य-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव प्रकारके माने जाते हैं।

आत्मा-आकाश-काल-दिशा-मन का खण्डन

इनमें आत्मा के निषेध के लिये यह भी साधन है कि जो कादाचित्क

चित्ककारणपूर्वकम्, यथा सौदामिनीज्ञानम् । कादाचित्कं चेदमहंकार-ज्ञानमित्यर्थतः कार्यहेतुः । नायमसिद्धः, अहंकारे धर्मिणि ज्ञानत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । नापि कादाचित्कविशेषणमसिद्धम्, सर्वदाऽहमिति ज्ञानाभावात् । नापि विरुद्धः, सपक्षे दर्शनात् । न चानैकान्तिकः, धूमपावकयोरिव कादाचित्कज्ञानकादाचित्ककारणयोः प्रत्यक्षानुपल-म्भाभ्यां व्याप्तिसिद्धेः । कादाचित्कज्ञानस्य चाकादाचित्ककारणा-दुत्पत्तौकादाचित्ककारणादनुत्पत्तिप्रसङ्गः । अनियतहेतुकतायां चाहेतु-कताप्रसङ्गः, तथाऽप्यनैकान्तिकत्वे प्रसिद्धधूमादिहेतुरप्यनैकान्तिकः स्यात्, विशेषाभावात् । अपि चाहंकारस्य अकादाचित्ककारणपूर्व-कत्वे सदैवोदयप्रसङ्गः । कारणस्य कुर्वद्रूपत्वात्, अकुर्वतश्चोपचारतः कारणत्वात्, कुर्वदकुर्वतोरैक्याभावात् । भावे वा कुर्वतोऽप्यकुर्वद्रूप-

---

(कुछ काल में रहनेवाला) ज्ञान होता है वह कदाचित्क कारण पूर्वक (अर्थात् उसके पूर्व में कुछ काल में रहने वाला कारण) होता है जैसे विद्युत् का ज्ञान । यह अहंकार ज्ञान कादाचित्क ज्ञान है यह अर्थ से कार्य हेतु है । यह हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि अहंकार धर्मी में ज्ञानत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है । कादा-चित्क विशेषण भी असिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वदा अहम् (मैं हूँ) यह ज्ञान नहीं रहता है । यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि सपक्ष में दीख पड़ता है । यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि धूम और अग्नि के समान कादाचित्क ज्ञान और कादाचित्क कारण में प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ के द्वारा व्याप्ति सिद्ध होती है । कादाचित्क ज्ञान की अकादाचित्क कारण से उत्पत्ति मानने पर कादाचित्क कारण से अनुत्पत्ति माननी होगी । अनियत हेतु से उत्पन्न मानने पर अहेतु से उत्पन्न मानने की आपत्ति होगी । इतने पर भी अनैकान्तिक जाना जाय तो प्रसिद्ध धूम आदि हेतु भी अनैकान्तिक हो जायेगा क्योंकि इसमें भी विशेष का अभाव तो रहता ही है । और भी यदि अहंकार को अकादचित्क कारण से उत्पन्न माना गया तो उसके सदैव उदय की आपत्ति होगी । क्योंकि कारण कुर्वद रूप होता है अकुर्वत् को उपचार (लाक्षणिक प्रयोग) से कारण कहा जाता है । कुर्वत् और अकुर्वत्

तापत्तिः, तत्स्वभावत्वात् । किञ्चाहंकारस्य अकादाचित्ककारणादुत्पादे युगपदेवोत्पादप्रसङ्गः, अव्यग्रसामग्रीकत्वात् । नन्वहंकारस्यालम्बनमात्मा न कारणमिति चेन्न । अकारणस्यालम्बनत्वायोगादतिप्रसङ्गादिति ॥

अथ किमाकाशं नाम किञ्चिद्वस्तुभूतमस्ति ? उत नास्ति वा ? नास्त्येवैतत् । यत्र हि सप्रतिघं द्रव्यमस्ति न तत्राकाशमवकाशं वा ददाति । यत्र नास्ति तत्र तदभावादेवावकाशः सिद्ध इति क्व वाऽऽकाशमवकाशं दद्यात् ? [यस्मादवकाशप्रदमाकाशं भण्यते] तस्मात् सत्यस्मिन् सर्वदा सर्वथा सर्वत्रावकाशः स्यात् । न चैतदस्ति । तस्मान्नास्त्येवाकाशमिति प्रतीमः । एतच्च वैभाषिकमतपेक्ष्य दूषणमुक्तम् ॥

में ऐक्य का अभाव होता है। दोनों में ऐक्य भाव मानने पर कुर्वत को भी अकुर्वत् मानने की आपत्ति होगी क्योकि वह उसके स्वभाव वाला ही होगा। और भी अहंकार को अकादाचित्क कारण से उत्पन्न मानने पर एक साथ ही उसकी उत्पत्ति की आपत्ति होगी क्योंकि उसकी उत्पादक-सामग्रियों में सम्पूर्णता रहेगी कमी न रहेगी। यदि यह कहा जाय कि अहंकार का आलम्बन आत्मा कारण नहीं होता तो यह कथन ठीक नहीं हो सकता क्योंकि अकारण को आलम्बन नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति दोष होगा।

यहाँ विपक्षी (न्याय वैशेषिक आदि) से यह पूछा जाता है कि क्या आकाश नाम की कोई वस्तु है अथवा नहीं हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि वह नहीं ही है। जहाँ कहीं प्रतिघात करने वाला द्रव्य रहता है वहाँ न आकाश रहता है और न अवकाश ही प्रदान करता है। जहाँ प्रतिघात करने वाला द्रव्य नहीं रहता है वहाँ उसके अभाव से ही अवकाश सिद्ध हो जाता है। तब आकाश कहाँ है ? और कहाँ अवकाश देता है ? [क्योंकि अवकाश देने वाले को ही आकाश कहा जाता है] इसलिये इसके रहने पर सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र अवकाश रहेगा। यह (सर्वत्र-अवकाश) नहीं है इसलिए आकाश नहीं है यही प्रतीत होता है। यह वैभाषिक मत को लेकर दोष बतलाया गया।

परैस्त्वाकाशं शब्दगुणकमिष्यते। तच्चैकमिति चेत् समानदेशत्वात् सर्वशब्दानां विभागेन श्रवणं न स्यात्। ततस्सन्निहितदेश इव दूरदेशाभिमतोऽपि शब्दः श्रूयेत। न वान्योऽपीत्येकान्तः। दिक्कालयोश्चैकत्वात् पूर्वापरादिप्रत्ययानुपपत्तिः। एतेन नित्यस्यापि मनसोऽसम्भव एव। तथा हि—युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्या मनोऽनुमीयते तद्वादिभिः। अनुभूयन्त एव युगपद्बहूनि ज्ञानानि नर्त्तकीदर्शनादौ। यदि पुनर्मनो [नित्यं] स्यात्तदानीमेतानि ज्ञानानि न युज्यन्ते। तस्मान्नास्त्येव मनोऽपि॥

अवयविनिरसनपूर्वकं परमाणुमात्रसमर्थनम्

पृथिव्यादयोऽवशिष्यन्ते। ते चावयविपरमाणुभेदेन द्विधा इष्यन्ते। तत्र योऽवयवी घटादिः परमाणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धः प्रसिद्धः

परमतावलम्बी (न्याय-वैशेषिक) आकाश को शब्द गुणवाला मानते हैं। यदि वह (आकाश) एक है तो समान देशता के कारण सब शब्दों का विभाग से (अलग-अलग) श्रवण नहीं हो सकेगा। इसलिये समीपस्थ शब्द के समान दूर देश स्थित शब्द को भी सुनाई पड़ना चाहिए। नहीं तो दूर देश के सामान समीप देश के शब्द को भी सुनाई न पड़ना चाहिए। दिशा और काल के एक होने के कारण पूर्व एवं अपर (देश काल से सम्वित पहले पीछे) प्रत्यय की सिद्धि भी नहीं हो सकती। इससे मन का नित्य होना भी असंभव ही है। मन को नित्य मानने वाले एक साथ अनेक ज्ञान की अनुपत्ति से मन का अनुमान करते हैं। किन्तु नर्तकी के देखने आदि में एक साथ अनेक ज्ञानों का अनुभव होता ही है। यदि फिर मन (नित्य) होगा तो उस समय ये ज्ञान नहीं हो सकेगें। इसलिए मन भी नहीं ही है।

अवयवि-निरसनपूर्वक परमाणु मात्र समर्थन

अब पृथ्वी आदि अवशेष हैं। वे अवयवी और परमाणु के भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं। उनमें जो अवयवी घट आदि हैं वे परमाणुओं से द्वयणुक आदि क्रम से आरब्ध होते हैं उसका उपलब्धि लक्षण से युक्त अनुपलब्धि रूप बाधक

तस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भो बाधक इत्युक्तम्। यद्यवयवी नास्ति कथं तर्ह्ययमेकत्वेन प्रतिभासत इति चेत्—

भागा एव हि भासन्ते सन्निविष्टास्तथा तथा।

तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः सम्प्रतीयते ॥

इत्युक्तम्। ननु कोऽयं भागप्रतिभासो नाम? नानादिग्देशावष्टम्भेन सञ्चितः परमाणुप्रतिभास एव। यद्येवं कथं 'प्रतिभासधर्मः स्थौल्यम्' इत्युक्तं धर्मोत्तरेण; तत्राप्ययमेवार्थः। अर्थस्य स्वरूपेण नास्ति वेदनम्; "भाक्तं स्यादर्थवेदनम्" इति वचनात्। तस्माद्योऽयं नीलादिप्रतिभासो नानादेशव्यापित्वेनानुभूयते स एव स्थूलप्रतिभास इत्यदोषः। येऽपि तदारम्भकाः परमाणवो वैशेषिकाणां, साक्षादध्यक्ष-गोचरा वैभाषिकाणां दर्शने, स्वकारसमर्पणप्रवणाः सौत्रान्तिकानां मते, तेऽपि योगाचाराणां दर्शने न सम्भवन्ति। न खल्वेकः परमाणुः

प्रसिद्ध है, यह कहा जा चुका है। यहाँ यह शंका की जाती है कि यदि अवयवी नहीं है तो वह कैसे प्रतीत होता है?

विभिन्न भाग ही उस प्रकार से सन्निविष्ट होकर भासित होते उन भागों वाला निर्भाग कोई है ऐसी प्रतीत नहीं होती है।

यह कहा जा चुका है। यहाँ यह पूछा जाता है कि यह भाग का प्रतिभास क्या है? उत्तर में कहा जाता है कि अनेक दिशा और देश के अवष्टभ से सञ्चित परमाणु का प्रतिभास ही है। यदि यह बात है तो कैसे प्रतिभास का धर्म स्थौल्य (स्थूलत्व) हो सकता है धर्मोत्तर ने जो कहा है उसका भी यही अर्थ है। अर्थ का स्वरूप से ज्ञान नहीं होता है; 'अर्थ क वेदना' यह एक लक्षणिक प्रयोग है। इसलिये यह जो नील आदि का प्रतिभास अनेक देशों में व्यप्त होकर अनुभव में आता है वही स्थूल प्रतिभास है। एसा माम लेने में कोई दोष नहीं है। जो उसके आरम्भक परमाणु वैशेषिकों को मान्य हैं तथा वैशेषिक दर्शन में जो साक्षात् प्रत्यक्ष के विषय माने जाते हैं और सौत्रान्तिक जिन्हें अपने आकार के समर्पण में प्रवण (उन्मुख) समझते हैं वे भी योगा चारदर्शन में संभव नहीं है। एक पर-

प्रसिद्धिमध्यास्ते। तस्याधरोत्तरचतुर्दिक्षु परमाणुमध्यासीनस्य नियमेन षडंशतापत्तेः। यो ह्यस्य स्वभावः पूर्वपरमाणुप्रत्यासन्नः न स एवापरपरमाणुप्रत्यासन्नो घटते। तयोरेकदेशताप्राप्तेः। एवं च स पूर्वपरमाणुसन्निहितस्वभावोऽपरपरमाणुं प्रत्यासीदेद्यदि सोऽपि तत्र स्यात्। असत्यामपि प्रत्यासत्तावाभिमुख्यमात्रेऽप्ययमेव वृत्तान्तः। ततश्च परमाणु मात्रं पिण्डः प्रसक्तः ॥

अथवाऽयं विचारः; यदेतत्प्रतिभासमानं तदेकं तावन्न युक्तम्, अनन्तरोक्तविचारात्। नाप्यनेकं, परमाणुशः परमाणोरयोगात्। तथाहि—यद्यसौ सांशः कथं परमाणुः? अथ निरंशः तदा संयुक्ताः परमाणवः सर्वात्मना संयोगात् परस्परमभिन्नदेशाः स्युरिति सर्वः पिण्डः परमाणुमात्रं स्यात्, पर्वतोऽपि क्षितिरपीति। तस्मादवश्यं

माणु कहीं नहीं रह सकता है। उसकी ऊपर, नीच और चारो तरफ से परमाणुओं के मध्य में स्थित मानना पड़ेगा। अपने पूर्व परमाणु के सन्निधान में जो इसका स्वभाव होगा वही स्वभाव अपर परमाणु के सन्निधान में मानना संगत न होगा। क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों में एक देशता की प्राप्ति होगी। और इस प्रकार वह पूर्व परमाणु से सम्बन्धित स्वभाव वाला पर परमाणु से भी सम्बन्धित हो जाएगा यदि वह (पर परमाणु) भी वहाँ रहेगा। यदि दोनों में प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) न रहे केवल अभिमुखता मात्र ही रहे तो भी यही दशा होगी। इससे जो परमाणु मात्र है वह पिण्ड हो जाएगा।

अथवा यह विचार किया जा सकता है कि 'जो यह प्रतिभासित होता है वह एक है' यह कहना उचित नहीं है क्योंकि इसके सम्बन्ध में अभी विचार किया जा चुका है। उसे अनेक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि परमाणु के अंश को परमाणु मानना उचित नहीं। जैसे कि यदि वह अंश युक्त है तो वह परमाणु कैसे है ? और यदि उसमें अंश नहीं है तब तो संयुक्त परमाणुओं में सर्वात्मना (पूर्ण रूपेण) संयोग हो जाने के कारण वे संयुक्त परमाणु परस्पर अभिन्न देश वाले होगें तब तो परमाणु से बने सब पिण्ड चाहे वह पृथ्वी हो चाहे पर्वत परमाणु मात्र होंगे।

तयोः स्वभावयोर्भेदोऽभ्युपेतव्यः। यथा चानयोस्तथाऽधरोत्तरदक्षिणोत्तरपरमाणुप्रत्यासन्नानां स्वभावानां च भेद इति सडंशतैव परमाणोर्न्यायबलादापतति। यदाह—

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥

इति। न चैकासिद्धौ अनेकस्यापि सिद्धिरिति न सन्ति परमाणवः। यदि बाह्योऽर्थो नास्ति किं विषयस्तर्ह्ययं प्रतिभासः? प्रतिभासः खल्वेषोऽनादिविततवासनातः प्रवर्तमानो निरालम्बन एव लक्ष्यते। तथा हि—सति विषये सालम्बनता स्यात्। तेन चावयविना भवितव्यम् परमाणुप्रचयेन वा। स चायमुभयोऽप्यनन्तरोक्तबाधकप्रमाण [ग्राह] ग्रस्तविग्रहो न व्योमतामरसमतिशेते यथोक्तम्—

[न सद्भावयवी नाम न सन्ति परमाणवः।]
प्रतिभासो निरालम्बः स्वप्नानुभवसन्निभः॥

इसलिये दोनों के स्वभाव में अवश्य ही भेद मानना होगा। जैसे दो में भेद होगा उसी प्रकार अपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर में सम्बन्धित परमाणुओं के स्वभाव में भी भेद मानना होगा इस न्याय के बल से परमाणु में छः अंशों की सिद्धि हठात् हो जाती है कि

छः के साथ संयोग होने से परमाणु में छ अंश हो जाते हैं। और छओं को समान देश वाला मान लेने पर पिण्ड अणु मात्र बन जाता है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि एक के असिद्ध होने पर अनेक की सिद्धि होती है अतः परमाणु नहीं हैं। यदि बाह्य अर्थ नहीं है तो इस प्रतिभास का विषय क्या है? यह प्रतिभास अनादिकाल से आने वाले वासना से प्रवर्तित होकर निरालम्बन ही लक्षित होते हैं। जैसे कि विषय के रहने पर ही सालम्बनता होगी। इसलिये या तो अवयवी मानना चाहिए या परमाणु समूह। ये दोनों ही अभी कहे हुए बाधक प्रमाण (रूपी ग्राह) से ग्रस्त शरीर वाला होने से आकाश कुसुम से अधिक महत्व नहीं रखते। जैसे कहा गया है कि

[न सत् है, न अवयवी है, और न परमाणु ही हैं।]
प्रतिभास स्वप्न के अनुभव के समान बिना किसी आलम्बन के ही हैं।

निरालम्बनवादः

इति। स्वप्नज्ञानं निरालम्बनं विदितमेव। न च स्वप्नजाग्रदनुभवयोर्भेदः कश्चिदप्यस्ति। सर्वप्रकारसाधर्म्यदर्शनात्। न चानालम्बनादनवाप्तरूपविशेषं विज्ञानं सालम्बनसम्बन्धमनुभवितुमुत्सहते। यदनालम्बनादविशिष्टं तदनालम्बनम्, यथैकस्मादाकाशकेशदर्शनात् द्वितीयम् [ज्ञानं]। अनालम्बनाच्च स्वप्नज्ञानादविशिष्टं विवादास्पदीभूतं जाग्रद्वि ज्ञानमिति स्वभावहेतुः।

विज्ञानस्य साकारत्व निराकारत्व पक्षभेदः

यदि बाह्योऽर्थो नास्ति किं तर्हि परमार्थसत्? ग्राह्यग्राहकादिकलङ्कानङ्कितं निष्प्रपञ्चविज्ञानमात्रं परमार्थसत्। यथोक्तम्—"ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं विज्ञानं परमार्थसत्" इति। पुनश्चोक्तम्—

निरालम्बनवाद

स्वप्न-ज्ञान विना किसी आलम्बन के ही होता है यह विदित ही है। स्वप्न और जाग्रत अनुभवों में कोई भी भेद नहीं है क्योंकि सभी प्रकार के साधर्म्य दीख पड़ते हैं। यदि यह कहा जाय कि अनालम्बन होने से रूप-विशेष ग्रहण न कर सकने के कारण विज्ञान सालम्बन सम्बन्ध का अनुभव करने के लिए उत्साहित होते हैं तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि जो अनालम्बन होने से अविशिष्ट हैं वही अनालम्बन हैं, जैसे एक आकाश के केश देखने से दूसरा ज्ञान। अनालम्बन होने के कारण स्वप्न-ज्ञान अविशिष्ट है, जाग्रत-विज्ञान विवाद का विषय हैं अतः यह स्वभाव हेतु है।

विज्ञान का साकारत्व तथा निराकारत्व

यदि बाह्य अर्थ नहीं है तो परमार्थ सत् क्या है? ग्राह्य-ग्राहक आदि कलंकों से अनङ्कित (रहित) प्रपंचरहित विज्ञान मात्र परमार्थ सत् है। जैसे कहा गया है कि ग्राह्य ग्राहक से निर्मुक्त (रहित) विज्ञान मात्र परमार्थ सत् है। और भी कहा गया है कि:

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयाऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥"

उक्तं चैतद्भगवता—

"बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्त्तते ॥" इति।

तत्र केचिदेवमाहुः—विज्ञानमेवेदं सर्वं सर्वशरीरविषयभावेन प्रसिद्धम्। तच्च स्वसंवेदनमिति न कस्यचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। कल्पनया तु ग्राह्यग्राहकभाव इति व्यवस्थाप्यते। ततः परिकल्पितग्राह्यग्राहकभावरहितं विज्ञानं [साकार] सत्यमिति। अन्ये तु सकलाकारकलङ्कानङ्कितं शुद्धस्फटिकसंकाशं वास्तवं विज्ञानम्। आकारास्त्वमी वितथा एवाविद्यया दर्शिताः प्रकाशन्ते। तस्मात् ग्राह्यं नाम नास्त्येव। ग्राह्याभावात् तदपेक्षया यद्ग्राहकत्वं विज्ञानस्य तदपि नास्तीति। माध्यमिकानां तु दर्शने तदपि विज्ञानं न परमार्थसत्, विचारासहत्वात्। स्वभावेन हि युक्तं पारमार्थिकमुच्यते लोके। न

बुद्धि से अन्य कोई अनुभाव्य (अनुभव का विषय) नहीं है और उसका (बुद्धि का) दूसरा अनुभव नहीं होता है। वासना में सम्बद्ध चित्त अर्थ के अवभास के लिए प्रवृत्त होता है। इस सन्दर्भ में कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं :— यह जो कुछ भी है वह सब विज्ञान ही है; वही सब शरीर, विषय आदि रूप से प्रसिद्ध है। वह स्वसंवेदन रूप है; वह किसी का ग्राह्य या ग्राहक नहीं है। कल्पना के आधार पर ग्राह्य भाव और ग्राहक भाव की व्यवस्था होती है। इसलिए परिकल्पित ग्राह्य ग्राहक भाव से रहित विज्ञान (साकार) सत्य है और अन्य लोग (कहते हैं) कि समस्त आकार रूप कलंक से अनङ्कित (रहित) शुद्ध स्फटिक के समान वास्तविक विज्ञान है। ये सभी आकार तो अतात्त्विक हैं अविद्या के द्वारा प्रदर्शित होकर प्रकाशित होते हैं। इसलिए ग्राह्य नामक कोई वस्तु नहीं ही है। ग्राह्य की अपेक्षा से ही विज्ञान भी परमार्थ सत् नहीं है क्योंकि वह विचार-संगत नहीं है। लोक-व्यवहार में स्वभाव से युक्त को पारमार्थिक कहा जाता है।

चास्य विचारतः कश्चित्स्वभावो घटते एको वाऽनेको वा, पूर्वविचारासहत्वात् । यथोक्तम्—

"नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं पारमार्थिकम् ।
एकानेकस्वभावेन वियोगाद्गगनाब्जवत् ॥"

इति ॥ कीर्तिपादैरप्युक्तम्—

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।
यस्मादेकमनेकं वा रूपं तेषु न विद्यते ॥"

इति ॥ तथाऽलङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

"यदा तु न विकल्पस्य न चान्यस्य प्रमाणता ।
तदा विशीर्यमाणेऽपि सर्वस्मिन् कोऽपराध्यतु ॥"
"बद्धमुक्तादिभेदोऽपि न चास्ति परमार्थतः ।
भेदो हि नावभात्येव सर्वत्र समदर्शिनाम् ॥"

इति ॥ प्रयोगः पुनरेवम्—यदेकानेकस्वभावं न भवति न तत्परमार्थसत्, यथा व्योमकमलम्, एकानेकस्वभावं च न भवति विज्ञानमिति

किन्तु विचार से इसका कोई स्वभाव उचित नहीं जान पड़ता एक अथवा अनेक क्योंकि वह पूर्वविचार से असंगत हो जाता है । जैसे कहा गया है कि:

विचारकों के लिये वह विज्ञान भी पारमार्थिक रूप में मान्य नहीं है क्योंकि आकाश कमल के समान वह एक, अनेक आदि स्वभावों से रहित है। कीर्ति महोदय ने भी कहा है कि:

भाव जिस रूप में निरूपित होते हैं वे रूप उनके तात्विक नहीं है क्योंकि उनमें एक या अनेक रूप विद्यमान नहीं रहते हैं ।

और अलंकारकार ने भी कहा है कि

जब न तो विकल्प की और न अन्य की प्रमाणता है तो सबके समाप्त हो जाने पर भी अपराध कौन करेगा ।

बद्ध और मुक्त आदि भेद भी पारमार्थिक नहीं हैं। समदर्शियों को सभी जगह भेद अवभासित्त ही नहीं होता है ।

प्रयोग भी इस प्रकार किया जाता है कि जो एक-या अनेक स्वभाव वाला नहीं होता है वह परमार्थ सत् भी नहीं होता है जैसे आकाश कमल, विज्ञान में भी एक या अनेक स्वभाव नहीं होता है यह व्यापक की अनुपलब्धि है। यह

व्यापकानुपलब्धिः। न तावदयमसिद्धो हेतुः। साकारे ज्ञाने बहिरर्थ इव एकानेकस्वभावायोग्यत्वस्य परिस्फुटत्वात्। यत्र हि लोकस्य बाह्यार्थव्यवहारस्तदेव साकारवादिनो ज्ञानम् ततो यत्तस्य बहिर्भावे बाधकं तदेवान्तर्भावेऽपि बाधकम्। न हि स्थूलमेकमनेकं च परमाणुरूपमपीष्यते। विज्ञानात्मकानामयमाकारो यद्येकः स्थूलो यदि वाऽनेकः परमाणुशो भिन्नः उभयथाऽपि बाह्यार्थपक्षभाविदूषणमशक्यमुद्धर्तुम्। न हि तद्विज्ञाने बहिर्भावनिबन्धनं दूषणम्! येन लब्धावेन भवेत्। मूर्तिनिमित्तं बाधकम्; नामूर्ते विज्ञानात्मनि इत्यपि निस्सारम्। साकारतायां विज्ञानस्यापि मूर्तत्वात्। अयमेव हि देशवितानवा(नाकारो) मूर्तिरिति॥

श्रीमन्महाजगद्दलविहारीय महापण्डितभिक्षुमोक्षाकरगुप्तविरचितायां तर्कभाषयां परार्थानुमानपरिच्छेदः समाप्तः॥

तर्कभाषामिमां कृत्वा पुण्यमासादि यन्मया।
तेन पुण्येन लोकोऽयं बुद्धत्वमधिगच्छतु॥

॥ तर्कभाषा समाप्ता ॥

हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि साकार ज्ञान में वाह्य अर्थ के समान एक या अनेक स्वभाव की अयोग्यता स्पष्ट है। जिसके लिए लोक में वाह्य अर्थ का व्यवहार होता है वही साकारवादियों का ज्ञान है। इसलिए जो उसके बाहर होने में बाधक है वही उसके भीतर होने में भी बाधक है। स्थूल को एक या अनेक परमाणु रूप भी नहीं माना जा सकता। विज्ञान-स्वरूपों का यह आकार यदि एक स्थूल हो अथवा अनेक भिन्न परमाणु रूप हो दोनों ही अवस्था में वाह्य अर्थ पक्ष में होने वाले दोषों का निवारण नहीं हो सकता। उस विज्ञान में वाह्य भाव होने के कारण होने वाले दोष नहीं हो सकते क्योंकि वे वाह्य भाव होने के कारण से ही होते हैं। वे बाधक मूर्त होने के कारण से हैं अमूर्त रूप विज्ञान में वे बाधक नहीं हो सकते हैं, यह मत भी तथ्यहीन है। क्योंकि साकार होने पर विज्ञान भी मूर्त है यही देश में विस्तार वाला आकार मूर्त कहलाता है।

श्रीमान् महाजगद्दल विहार के महापण्डित भिक्षु मोक्षाकर गुप्त द्वारा रचित परार्थानुमान परिच्छेद समाप्त हुआ।

इस तर्क भाषा की रचना कर जो पुण्य मैंने अर्जन किया है उस पुण्य से यह लोक वुद्धत्व प्राप्त करे।

तर्कभाषा समाप्त

अनेकान्तवादनिरासः

इदानीमार्हतमतं विचार्यते—इहामी दिगम्बराः द्रव्यपर्यायरूपेण उत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकं भावग्रामं वर्णयन्ति । तत्रावस्थासु सकलासु अनुगतस्वभावं द्रव्यमाचक्षते, यथा केयूरकटककुण्डलाद्यवस्था-स्वनुयायि सुवर्णम् । सत्यद्रव्यात्मनि उत्पादव्ययधर्मकाः पर्यायाः । यथा सत्यपि द्रव्ये जायमाना व्ययमानाश्च केयूरादयः । यथा घटं भञ्जयित्वा मौलिः क्रियते तथा घटो नश्यति मौलिरुत्पद्यते, सुवर्णं तु नोदेति न व्येति, इति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं वस्तु । यदाह—

घटमौलिसुवर्णानां नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

अब जैन मत का विचार किया जाता है—ये दिगम्बर लोग द्रव्य पर्याय रूप से उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश स्वरूप भाव समूह का वर्णन करते हैं। इनमें समस्त अवस्था में अनुगत स्वभाव वाले को द्रव्य कहा जाता है, जैसे केयूर (भूषण-विशेष) कटक, कुण्डल आदि अवस्थाओं में अनुगत रहने वाला स्वर्ण, सत्य द्रव्य में उत्पत्तिशील तथा विनाशशील धर्म पर्याय कहे जाते हैं जैसे द्रव्य (स्वर्ण) के रहने पर भी केयूर आदि भूषण बनते हैं। जैसे घड़े को तोड़ कर मुकुट बनवाया जाता है और घड़ा नष्ट होता है एवं मुकुट उत्पन्न होता है किन्तु स्वर्ण तो ज्यों का त्यों रहता है न उत्पन्न होता है और न नष्ट। इस तरह वस्तु (सत्) वही है जो उत्पत्तिशील, विनाशील और स्थिति शील हो। जैसे कहा है कि:

घड़े, मुकुट और स्वर्ण के क्रमशः नाश, उत्पत्ति और स्थिति में यह मनुष्य सकारण शोक, प्रसन्नता और तटस्थता प्राप्त करता है।

न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।।
न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्
व्येत्युदेति विशेषेण सहैकत्रोदयादि सत् ।।

इति । विरुद्धधर्माध्यासस्य सर्वत्र भेदलक्षणत्वादिति । न ह्येकस्य त्रैरूप्यमुपपद्यते । यदिह सत्यपि विरुद्धधर्माध्यासे द्रव्यपर्याययोरभेदोऽभ्युपगम्यते तदा घटपटयोरप्यभेदोऽभ्युपगन्तव्यः । अथ मन्यसे द्रव्यपर्याययोः परस्परतोऽनैकान्तिको भेदो अभेदो वा अभ्युपगम्यते, किंतु देशकालस्वभावानामभेदात् उतोच्यते सङ्ख्यासंज्ञालक्षणार्थभेदात् भेदस्तु वर्ण्यते । न ही कटकादीनामन्यो देशोऽन्य एव सुवर्णस्य च ! न च कटकादयः सुवर्णाद्भिन्नकालाः ! नापि कटकादीनां सुवर्णस्य च स्वभावे नानात्वमस्ति ! अतो देशकालस्वभावानामेकत्वादेकता द्रव्य-

---

नाश के विना शोक नहीं होगा, उत्पत्ति के विना सुख नहीं होगा, और स्थिति के बिना तटस्थता नहीं होगी इसलिए वस्तु तीनों रूप है ।

सामान्य स्वरूप से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती और अन्वित रूप से कोई वस्तु नष्ट भी नहीं होती; वह विशेष के साथ उत्पन्न और नष्ट होती है अतः एक में ही उत्पत्ति आदि सत् है । क्योंकि सभी जगह विरुद्ध धर्मों का अध्यास भेद लक्षण वाला होता है । एक का तीन रूप स्वीकार करना संगत प्रतीत नहीं होता है । यदि यहाँ विरुद्ध धर्म के अध्यास के रहने पर भी द्रव्य और पर्याय में अभेद माना जाता है तो घड़े और कपड़े में भी अभेद माना जान चाहिए । यदि यह मानते हो कि द्रव्य और पर्याय में परस्पर न एकान्तिक भेद है और न एकान्तिक अभेद किन्तु देश, काल, स्वभाव के अभेद से एकता कही जाती है और संख्या, संज्ञा, लक्षण एवं अर्थ के भेद से भेद का वर्णन किया जाता है । कंगन आदि भूषण दूसरा देश और सुवर्ण का दूसरा देश नहीं होता । कंगन आदि भूषण का समय भी सुवर्ण के समय से भिन्न नहीं होता । कंगन आदि भूषणों तथा स्वर्ण के स्वभाव में भी अनेकता नहीं रहती । इसलिए देश, काल और स्वभाव की एकता

पर्याययोः। एकं द्रव्यं बहवः पर्याया इति सङ्ख्यासंज्ञाभेदः। अनुवृत्तिलक्षणं द्रव्यं। व्यावृत्तिलक्षणाः पर्यायाः इति लक्षणभेदः। केयूरकटकाभ्यां च कफोणि पाणिभूषणं क्रियते, सुवर्णेन तु केयूरादिकं तदेवेति कार्यमपि भिद्यते द्रव्यपर्याययोः। अतः संख्यासंज्ञालक्षणप्रयोजनभेदात् भिन्नत्वं द्रव्यपर्याययोरिति॥

अत्रैवं चिन्त्यते; यदि तावत् द्रव्यपर्याययोः स्वभावाभेदेन अभेदमभिधत्ते तदा द्रव्यपर्याययोरेकरूपतैव तात्त्विकीति संख्यादिभेदाद्भिन्नरूपता कल्पनामात्रकल्पिता स्यात्। न हि ययोः स्वभावाभेदः तयोरन्यथा पारमार्थिको भेदः सम्भवी। भेदे च तयोरभिधीयमाने स्वभावभेद एव तयोरभ्युपगतो भवेदिति न तयोः स्वभावाभेदेनाभेदः सिध्येत्। नच तेनैव स्वभावेन भेदश्चाभेदश्च। नचान्येन स्वाभावेन भेदोऽन्येनाभेद इत्यपि प्रेक्षावतो वक्तुमुचितम्! स्वभावभेदाभेदाभ्यां

के कारण द्रव्य और पर्याय में एकता है। एक द्रव्य है बहुत पर्याय हैं इस प्रकार संख्या और संज्ञा का भेद है। जो अनुवृत्ति स्वरूप वाला हो वह द्रव्य होता है। जिसका स्वरूप व्यावृति हो उसे पर्याय कहते हैं इस प्रकार लक्षण में भेद है। केयूर और कंगन से केहुनी और कलाई को भूषित किया जाता है और स्वर्ण से उन्हीं केयूर आदि का निर्माण होता है इस प्रकार द्रव्य और पर्याय के कार्य में भी भेद होता है। इसलिए संख्या, संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन के भेद होने से द्रव्य और पर्याय में भिन्नता है।

यहाँ इस प्रकार विचार किया जाता है कि यदि द्रव्य और पर्याय के स्वभाव में भेद होने से अभेद कहते हो तो द्रव्य और पर्याय में एकता ही तात्विक हुई और संख्या आदि के भेद से भिन्न रूपता कल्पना मात्र से कल्पित होगी। जिन दो स्वभाव का अभेद हो उनमें अन्य प्रकार से पारमार्थिक भेद संभव नहीं हो सकता। दोनों में भेद कहने पर दोनों के स्वभाव भेद को ही मानना होगा और उन दोनों में स्वभाव के अभेद से अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। उसी स्वभाव से भेद और अभेद मानना भी ठीक नहीं है। विचारकों का यह कहना भी

भेदाभेदाभ्युपगमप्रसङ्गात् । यदि चान्येन स्वभावेन भेदोऽन्येन च स्वभावेनाभेद इत्यभ्युपगम्यते तदाऽन्यद्द्रव्यपर्यायाख्यमेकं वस्तु तयोरन्ये एव चान्योन्यभिन्ना द्रव्यपर्याया इति नैकमनेकात्मकं वस्तु वस्तुतः समर्थितं स्यात् । स्वभावेन चाभेदे देशकालाभेदादभेद इति किमनयाऽनुयुक्तघोषणया । ययोर्हि स्वभावेन भेदो न तयोर्देशकालाभेदादप्यभेदो यथा रूपरसयोः । यदि च पर्यायाणां द्रव्यस्वभावेनाभेदः, तदा पर्यायाणां द्रव्यात्मन्यनुप्रवेशात् द्रव्यमेव केवलमवशिष्यत इति संख्येयभेदाभावात् संख्याबाहुल्यं नास्तीति पर्याया इति बहुवचनं न प्राप्नोति । संज्ञिभेदाभावाच्च न तदाश्रयः संज्ञाभेदः । अथ पर्यायेभ्यो द्रव्यस्वभावेनाभेदः, तदा द्रव्यस्य पर्यायात्मन्यनुप्रवेशात् पर्याया एव

उचित न होगा कि अन्य स्वभाव से भेद होता है और अन्य स्वभाव से अभेद । क्योंकि ऐसा कहने पर स्वभाव के भेद और अभेद के द्वारा भेदाभेद को मानने की आपत्ति होगी । यदि अन्य स्वभाव से भेद और अन्य स्वभाव से अभेद मान लिया जाता है तो अन्य द्रव्य पर्याय नामक वस्तु और उन दोनों से अन्य एक दूसरे से भिन्न द्रव्य पर्याय होगें और इस प्रकार अनेकात्मक एक वस्तु का वस्तुतः समर्थन नहीं हो सकेगा । यदि यह कहते हो कि स्वभाव से भेद होने पर भी देश और काल के अभेद होने से अभेद होता है तो इस निरर्थक घोषणा से क्या लाभ ? जिन दो वस्तुओं में स्वभाव से भेद है उन दो वस्तुओं में देश और काल के अभेद होने पर भी अभेद नहीं होता जैसे रूप और रस में में यदि पर्यायों का द्रव्य के स्वभाव से अभेद है तब तो पर्याय द्रव्य के स्वरूप में अनुप्रविष्ट हो जायेंगे और द्रव्य ही केवल अवशिष्ट रहेगा इस प्रकार संख्येय (संख्या द्वारा निर्दिष्ट वस्तु) में भेद के न रहने से संख्या की अनेकता नहीं होगी और इसलिए पर्यायों के लिए बहुवचन का प्रयोग भी न होगा । संज्ञी (संज्ञा से कहे जाने वाले) के भेद न होने के कारण उसके आधार पर संज्ञा में भेद भी न होगा और यदि पर्यायों से द्रव्य के स्वभाव में अभेद हो तो द्रव्य

केवलमवशिष्यन्त इति संख्यैमैकत्वाभावात् (संख्यैकत्वंनास्तीति) द्रव्यमित्येकवचनं न प्राप्नोति ।।

नचैकानेकवचनप्रयोगमात्राद्वस्तूनामेकत्वानेकत्वे; षण्णगरी दारा इति विनाऽपि भेदाभेदाभ्यां बहुवचनैकवचनप्रयोगदर्शनात् । नच संज्ञि नानात्वमात्रेण संज्ञानानात्वम्; एकस्यापि तुरङ्गस्य हरिहयाश्वसप्त्यादिसंज्ञाबाहुल्यदर्शनात् । सति च स्वभावाभेदे लक्षणभेदोऽप्यनु[प] पत्तिमानेव । न हि द्रव्यपर्याययोरेकत्वे सत्यनुवर्तते द्रव्यं तदात्मकं च पर्यायं रूपं व्यावर्तत इत्युक्तम् । द्रव्यादिपर्यायाणामभेदे तस्मिन्ननुवर्तमाने पर्याया अप्यनुवर्तेरन् । अन्यथा हि तदेवानुवर्तते नानुवर्तते चेति स्यात् । पर्यायेभ्यश्च द्रव्यस्याभेदे तेषु व्यावर्तमानेषु द्रव्यमपि व्यावर्तेत; अन्यथा हि त एव तथैव व्यावर्तन्ते न व्यावर्तन्ते चेति स्यात् ।

पर्याय के स्वरूप में अनुप्रविष्ट हो जाएगा केवल पर्याय ही अवशिष्ट रहेंगे और संख्येय में एकत्व न होने के कारण (संख्या का एकत्व न होगा) और द्रव्य का एकवचन में प्रयोग नहीं हो सकेगा ।

एकवचन और बहुवचन के प्रयोग मात्र से वस्तु में एकत्व और अनेकत्व मानना ठीक नहीं है क्योंकि षट्नगरी और दारा (स्त्रीवाचक बहुवचन) भेद और अभेद के न रहने पर भी एकवचन और बहुवचन का प्रयोग होता है । संज्ञी के नानात्व मात्र से संज्ञा में अनेकता होती है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक घोड़े के लिये हरि, हय, अश्व, सप्ति आदि अनेक संज्ञाओं का प्रयोग हुआ करता है । स्वभाव के अभेद होने पर लक्षण के भेद की सिद्धि भी नहीं हो पाती । द्रव्य और पर्याय के एक होने पर द्रव्य अनुवर्तित होता है और उसी रूप में होते हुए भी पर्याय व्यावर्तित होता है यह कहना संगत नहीं है । द्रव्य और पर्याय में अभेद होने पर द्रव्य यदि अनुवर्तित होता है तो पर्यायों को भी अनुवर्तित होना होगा । नहीं द्रव्य को ही 'अनुवर्तित होता है' और 'अनुवर्तित नहीं होता है' दोनों मानना पड़ेगा । पर्यायों से द्रव्य को अभिन्न मानने पर पर्यायों के व्यावर्तित होने पर द्रव्य को भी व्यावर्तित होना होगा और नहीं तो पर्यायों को ही 'व्यावर्तित होते हैं'

न चैतदनुन्मत्तो ब्रूयात्। स्वभावाभेदं च द्रव्यपर्याययोर्वर्णयता द्रव्यस्य कार्यं यत्तत् पर्यायजातस्य; यच्च पर्यायजातस्य तद्द्रव्यस्येति स्फुटतरमा[वे]दितं भवति। तथा च सति द्रव्यपर्याययोः कार्यभेदो न सम्भवत्येव प्रागेव तन्निबन्धनो भेदः। एकस्याप्यनेककार्यकारित्वदर्शनान्न कार्यभेदाद्भेदः सिध्यति। न हि मलयजमृगाङ्कादयो युगपद्बहूनां बहूनि विज्ञानानि जनयन्तोऽपि स्वभावनानात्वमनुभवन्ति! एक एव प्रदीपः कज्जलालोकादिकमनेकधा कुर्वन्नवलोक्यत इति न कार्यभेदादपि भेदव्यवहारो ज्यायान्। एतेन हि त(अन्य)दपि प्रत्युक्तम्। यदाह कुमारिलः—

"सर्वं हि वस्तु रूपेण भिद्यते न परस्परम्।"

इति। यदि हि यदेव वस्तुत्वं तदेव वेदचाण्डालालापयोः ब्राह्मणचाण्डालयोरपि; तथा वेदचाण्डालालापयोः ब्राह्मणचाण्डालयोश्च-

---

और 'व्यावर्तित नहीं होते हैं' दोनों कहना पड़ेगा। जो उन्मत्त नहीं है वह इस प्रकार की बात कदापि नहीं कर सकता। द्रव्य और पर्याय के स्वभाव में अभेद मानने पर जो द्रव्य का कार्य होगा उसे पर्यायों का भी कार्य होना होगा और जो पर्यायों का कार्य होगा उसे द्रव्य का कार्य कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में द्रव्य और पर्याय में कार्य का भेद सम्भव ही न होगा उसके कारण से भेद पहले ही होगा। एक को भी अनेक कार्य करते हुए देखा जाता है अतः कार्य भेद से भेद की सिद्धि भी नहीं हो सकती। चन्दन कस्तूरी आदि एक साथ अनेक लोगों को अनेक विज्ञान उत्पन्न करते हैं तो भी उनके स्वभाव में अनेकता का अनुभव होता हो ऐसी बात नहीं है। एक ही दीपक काजल, प्रकाश आदि अनेक कार्य करता हुआ दीख पड़ता है इसलिये कार्य भेद से भी भेद का व्यवहार मानना ठीक नहीं है। इसके द्वारा उसका भी खण्डन हो जाता है। जो कुमारिल ने कहा है कि:

"सब कुछ वस्तु रूप से परस्पर भिन्न नहीं होता है। अर्थात् वस्तु रूप से सब चीजें अभिन्न हैं।"

जो वस्तुत्व है यदि वही वस्तुत्व भेद वाणी और चाण्डाल के आलाप में तथा ब्राह्मण और चाण्डाल में है तब तो वेद वाक्य और चाण्डाल वाक्य में और

कत्वं स्यात्। अथ वस्तुत्वेनाभेदेऽपि प्रकारान्तरेण भेद इष्यत इति चेत्; प्रकारान्तरं तद्वतो वस्तुरूपादनर्थान्तरं वा स्यादर्थान्तरं वा? अनर्थान्तरत्वे कथं तदाश्रयो भेदः। अर्थान्तरत्वे स्वरूपेणापि भेदात् भेद एव विशीर्यते। तस्मात् सर्व एव भावाः परस्परव्यावृत्तमूर्तयो न केनचिदंशेन मिश्रा भवन्ति। तदुक्तम्—

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः।
स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः॥

इति। अतोऽनेकान्तवादो विदुषा न विधातव्यः॥

दिगम्बरमतपरिक्षा समाप्ता

कृतिरियं जितारिपादानाम्।

प्रत्यभिज्ञानसंज्ञातं प्रमाणं कैश्चिदिष्यते
एकत्वंविषयम्....... ॥

ब्राह्मण एवं चाण्डाल में ऐक्य हो जायेगा। यदि वस्तु रूप से अभेद होने पर भी अन्य रूप से भेद मानते हो यह प्रकारान्तर उस प्रकारान्तर वाली वस्तु के स्वरूप से अभिन्न होगा या भिन्न होगा? यदि वह अभिन्न हुआ तो उसके आधार पर भेद कैसे होगा? और भिन्न मानने पर स्वरूप से ही भेद होने के कारण भेद ही समाप्त हो जाता है। इसीलिए सभी भाव परस्पर व्यावृत्त रूप वाले हैं किसी अंश से मिश्रित नहीं होते हैं। यह कहा भी है:—सभी भाव स्वभाव से अपने अपने स्वरूप में व्यवस्थित हैं। क्योंकि स्वभाव और पर-भाव दोनों के द्वारा वे व्यावृत्ति वाले हैं। इसलिए विद्वान् को अनेकान्तवाद का विधान नहीं करना चाहिए।

दिगम्बर मत की परीक्षा समाप्त

यह कृति जितारि महोदय की है।

प्रथमपरिशिष्टम्

अन्यग्रन्थेभ्यः तर्कभाषायां समुद्धरणानां विवरणम्

पृष्ठ

५ प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः (प्रवा० २.१)

,, ज्ञेयस्वरूपसंवित्तिरिष्टा तत्र क्रियास्थितिः ?

,, सन्देहो भवन् केन वार्यते (?)

७ तद्द्विविधं प्रत्यक्ष—चेति (न्याबि० १.२३)

१८ नाभावः—प्रतिपत्तिः (पण्डितचक्रचूडामणेः) ?

१९ तत्र—मभ्रान्तम् (न्याबि० १.४)

२० अभिलापसंसर्ग—कल्पना (न्याबि० १.५)

२१ भिन्नकालं—ज्ञानाकारार्पणक्षमम् (प्रवा० ३.२४)

,, न सोऽस्ति—भासते (वा)

२२ तिमिराशु—प्रत्यक्षम् (न्याबि० १.६)

२३ तच्चतुर्विधं—(न्याबि० १.७)

२४ स्वविषयानन्तर—मनोविज्ञानम् (न्याबि० १.९)

२५ द्वाभ्यां भिक्षवो – मनसा च (भगवतः) ?

२६ सर्वचित्त—स्वसंवेदनम् (न्याबि० १.१०)

२७ विज्ञानं जडरूपेभ्यो—जडरूपता (तसं० २०००)

,, कल्पितःकर्म—निरुच्यते (१)

२८ नागृहित—विशेष्ये (१)

,, चक्षुषो—घटिष्यते (त्रिलोचनस्य)

२९ रूपादिप्रकाश—ज्ञानस्यापि सिद्धि (भट्टस्य)

,, न हि कश्चिदज्ञाते – गच्छति (मीमांसाभाष्ये)

,, तस्य ज्ञानं तु—ज्ञाततावशात् (मीमांसावार्त्तिके)

पृष्ठ

५१ स्वभाव—वह्नेः (न्याबि० २.३५)

५२ कार्यविरुद्ध—वह्नेः (न्याबि० २.३८)

,, कारण—विशेषत्वात् (न्याबि० २.४१)

,, व्यापक—दहनात् (न्याबि० २.३९)

५३ कारण—धूमात् (न्याबि० २.४२)

५५ त्रिरूप—परार्थानुमानम् (न्याबि० ३.१)

,, तद्द्विविधं—वैधर्म्यवच्च (न्याबि० ३.४-५)

५६ संस्कृतं क्षणिकं सर्वं (सौत्रान्तिकस्य) ?

५९ यत्सत्—यथा घटः (न्याबि० ३.११)

,, यदुत्पत्ति—शब्दः (न्याबि० ३.१२)

,, यत्कृतकं—यथा घटः (न्याबि० ३·१३)

६० अपेक्षित—कृतकः (न्याबि० ३.१४)

६२ कार्यहेतो—धूमश्चात्र (न्याबि० ३.२३)

,, असत्यग्नौ धूमः (न्याबि० ३.२७)

,, यत्सदुपलब्धि—घंटस्य (न्याबि० ३.२५)

६५ सन्दिग्धे हेतु—रनाश्रयः (प्रवावृ० ४.९१)

६६ कार्यत्वस्य—विपक्षेक्षणात् (ज्ञानश्रीमित्रपादस्य)

,, यथा स्वाभाविकः—दर्शनात् (त्रिलोचनस्य)

७० सर्वादृष्टि—दर्शनात् (?)

,, विशेषस्मृत्यपेक्ष एव—शङ्कितुमुचितस् (वाचस्पतेः)

७८ प्रसङ्गोद्वय—हानये (प्रवावृ० ४.१२)

७९ दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः (न्याबि० ३.१३८)

८१ अहमित्यपि—वेदनात् (अलङ्कारकारस्य)

८६ शब्देन—दृष्टाविव (न्यायपरमेश्वरस्य)

८८ एकप्रत्यवमर्शस्य—नेन्द्रियादिवत् (?)

९२ नित्यस्य—सदृशात्मनः (धर्मकीर्तेः) (प्रवा० २६७.९८)

पृष्ठ

९३ पूर्वप्रमितमात्रे—अतिरेकिणी (भट्टस्य)

९५ सत्त्वलोक—नचास्ति (?)

९६ आकाशं—शून्यमकर्तृकं (भगवतः)

९९ मुक्तिस्तु—भावा (?) (प्रवा० २.२५३)

१०० स्वाकार—गोचराः (सौत्रान्तिकस्य)

,, यदि संवेद्यते—तदुच्यते (अलङ्कारकारस्य)

१०५ भागा—सम्प्रतीयत (?)

१०७ षट्केन—दणुमात्रकः (वा० १२)

,, न सन्नावयवी—सन्निभः (?)

१०८ ग्राह्यग्राहक—परमार्थसत् [?]

१०९ नान्यो—प्रकाशते (प्रवा० ३.३२)

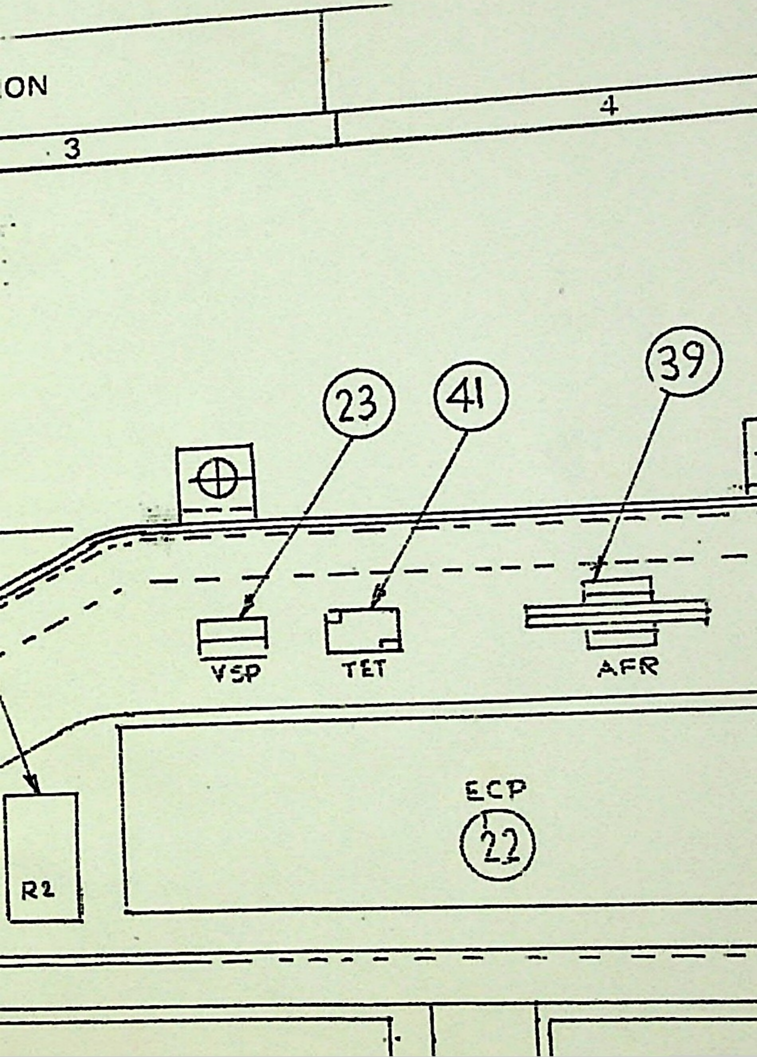
,, वाह्यो—प्रवर्तते [भगवतः]

११० नेष्ठं—गगनाब्जवत् (?)

,, भावा—न विद्यते (प्रवा० ३.३६०) (कीर्तिपादस्य)

,, यदा तु समदर्शिनां (अलङ्कारकारस्य)

———



ON
3
4
23
41
39
VSP
TET
AFR
ECP
22
R2